हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका
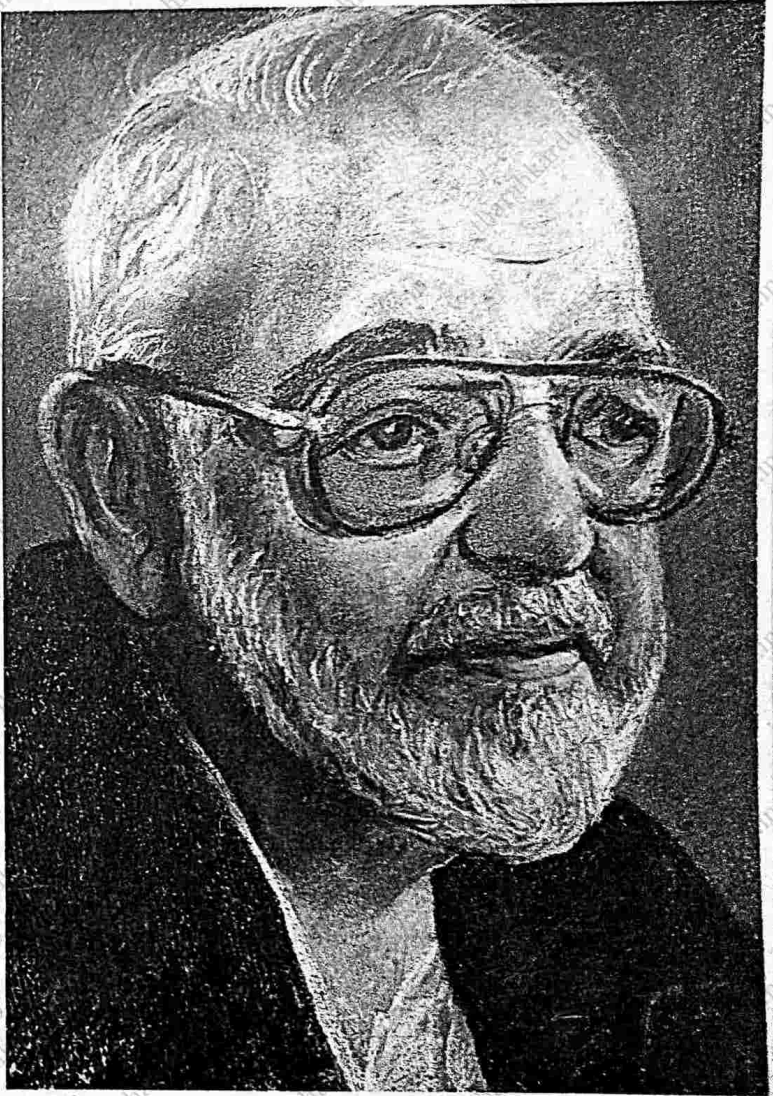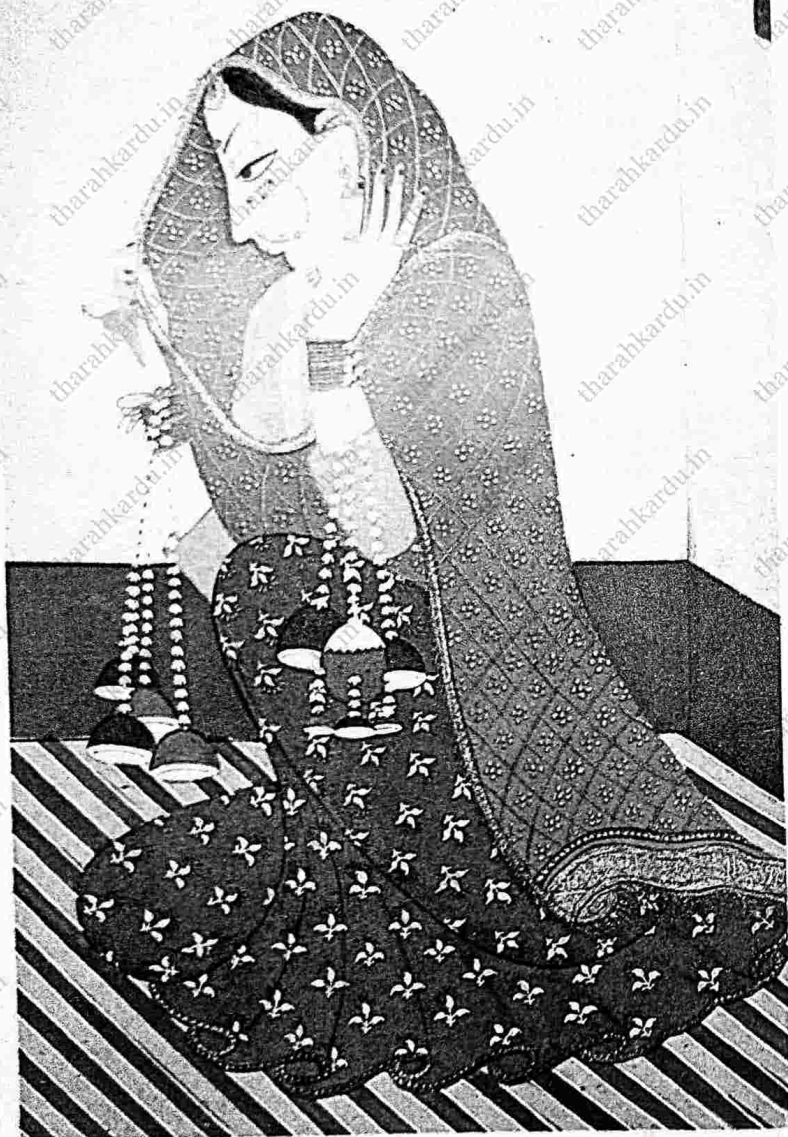
आवरण: मुख पृष्ठ: सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' चित्र: हरिश्चन्द्र राय
ऊपर का चित्र: नायिका (कांगड़ा शैली) चित्र: ओम प्रकाश सुजानपुरी, संदर्भ पृष्ठ'.....
अंतिम पृष्ठ: थानंग (निचार किन्नौर) का महेश्वर मंदिर छाया: हाकम शर्मा

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-३, अंक-१४, मई-जून, १९८७

मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-१७१००३ दूरभाष : ३६६६, ६८४६

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

पाठकीय

अंक बारह

कमलेश भट्ट 'कमल' (गाजियाबाद)

कविता शिविर पर एकाग्र अंक एक उपलब्धि है। इसे पढ़ने के बाद इस शिविर में भाग लेने जैसी अनुभूति मिलती है। नौ कवियों की कविताओं और उन पर केन्द्रित बहस में समकालीन कविता की स्थिति को भी काफी कुछ स्पष्ट किया गया है। रेखा और यादवेन्द्र शर्मा की कविताओं में एक विशेष किस्म की महक है, जो उन्हें अन्य कवियों से अलग करती है। कहीं-कहीं कविताओं से ज्यादा महत्वपूर्ण उन पर की गई बहस ही हो गई है। इस अंक के संपादन के लिए साधुवाद।

डॉ० सत्यपाल शर्मा (धर्मशाला)

विपाशा के रूप-रंग, सज्जा और स्तर को असाधारण तौर पर सुधारा गया है। अब इस पत्रिका की एक विशेष पहचान बन गई है। यह अन्य प्रदेशों के साहित्य-प्रेमी पाठकों को भी आकृष्ट करने लगी है। सरकारी पत्र-पत्रिकाओं में प्रूफ की अशुद्धियां दिखाई देती हैं, विपाशा इससे मुक्त है। पत्रिका में प्राचीन भारतीय साहित्य पर भी एक लेख रहना चाहिए। विस्मृत प्राय: साहित्य-निधियों को प्रकाश में लाकर हम अपनी अस्मिता को ही सुदृढ़ बनायेंगे। इसके अतिरिक्त पर्वतीय परिवेश में सहज रूप में ही उत्पन्न हो पाने वाली चारित्रिक विशिष्टताओं और मूल्य-मान्यताओं को आधार बनाकर लिखी गई रचनाएं रहनी चाहिए। ताकि साहित्य में धरती की गन्ध का अभाव न हो। मोमबत्तियां बुझाकर केक काटने वाली और हरे-भरे बनों का सफाया कर ड्राइंग रूम के भीतर और बाहर विदेशी पौधों को पालने वाली संस्कृति का हमारे यहां भी अबाध प्रसार हो रहा है। इस बाढ़ को रोकना भी बहुत जरूरी है।

रत्न चन्द निर्झर (किलाड़, पांगी)

पत्रिका मुझे नियमित मिल रही है। इसके रंग-रूप में निखार के साथ-साथ सामग्री का चयन भी सराहनीय है। एक अंक में नरेन्द्र निर्मोही की कहानी 'अभी पढ़ाई जारी है' अच्छी लगी।

प्रेम पुष्प (धर्मशाला)

विपाशा के दो अंक देखने का अवसर मिला, निस्संदेह उच्चकोटि के साहित्यिक अंक हैं। कृपया इसका स्तर निरंतर बनाये रखें। उचित समझें तो मूल्य वृद्धि कर दें, परन्तु पत्रिका

को बन्द न करें। आधुनिक परिवेश में साहित्यिक पत्रिकाओं का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। कविता शिविर अंक बहुत पसंद आया। इसमें हिमाचली कवियों की भी बहुत सुन्दर रचनाएं पढ़ने को मिलीं।

डा० पुष्पपाल (पटियाला)

विपाशा ने अपना स्थान बना लिया है, इसके लिए बधाई। सामग्री और सज्जा दोनों में ही यह अपने ढंग की है।

नरेन्द्र निर्मोही (उदयपुर, राजस्थान)

विपाशा के अंक पूरी तरह पढ़ गया हूं। शिविर लगाने का काम वास्तव में सराहनीय हैं। खासकर तब जब यह गम्भीर चर्चा और चिंतन के आधार बनते हों। बहुत-सी बातें जो हम रचना पढ़ते समय महसूस करते हैं, पर संवाद नहीं कर पाते, वे शिविर के माध्यम से व्यक्त हो जाती हैं। साथ-ही-साथ दूसरी बात यह भी पूरी हो जाती है कि लेखक को बन्द कमरे में बैठकर नहीं लिखना चाहिए, बल्कि उसे खुले माहौल में यायावरी करते हुए जनसमूह की चेतना को आत्मसात कर समाज की धड़कन को रचना में रचाना बसाना चाहिए।

विपाशा को लेकर एक दो बातें कहना चाहूंगा। पत्रिका में रचना प्रक्रिया/संस्मरण/साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी स्थान दिया जाना चाहिए। यानि लेखक की अन्दरूनी दुनिया की झलक भी पाठकों तक पहुंचनी चाहिए। मोटे रूप से कहूं तो लेखक की कार्यशाला में किन औजारों का होना जरूरी है और कौन से औजार कैसे और कब लेखक इस्तेमाल करता है। मेरा आशय उन सभी पक्षों पर संवाद बनाने से है जो रचना बनने, संवरने में नई रचना की आधारशिला का काम करते हैं।

वंशी माहेश्वरी (पिपरिया, म० प्र०)

विपाशा के दो अंक प्राप्त हुए। निस्संदेह अच्छे अंक दे रहे हैं। खासतौर से प्रदेश के नये रचनाकारों को स्थान देकर आप बेहतर काम कर रहे हैं। पर इसमें चयन में भी सख्ती लायें।

ओम् गोस्वामी (जम्मू)

विपाशा के अंक मिले। हिमाचल से ऐसी पत्रिका छपना एक शुभ संकेत है।

अम्बरीश (माजरा, सिरमौर)

विपाशा मूल्य से सर्वसुलभ है, रूप-सज्जा बांकी है। देश की माटी से जुड़ी है। यदि नारेबाजी और साहित्यिक खेमेबाजी से बच कर रही तो ऊंचा उद्देश्य पूरा करती रहेगी। विपाशा की सामग्री बोधगम्य ही रही तो पंडिताऊ भाषा की ऊब से मुक्त हो सकेंगे। हिन्दी के विकास और प्रगति के लिए सरल भाषा, भावप्रवणता और माटी की गंध से जुड़े रहना जरूरी है।

दिनेश धर्मपाल (मंडी, हि० प्र०)

मेरी दृष्टि में 'विपाशा' गत 40 वर्षों में हिमाचल में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ हिन्दी पत्रिका है। इसका स्तर 'शिखर' और 'हिमप्रस्थ' से भी ऊंचा है। इसके स्तम्भ पठनीय ही नहीं संग्रहणीय भी हैं। मैं अक्सर विद्यार्थियों को नोट्स लिखाते समय इसमें प्रकाशित सामग्री का सहारा लेता हूं।

संपादकीय

'अज्ञेय' से जुड़ना और टकराना

गत चार अप्रैल को अज्ञेय नहीं रहे। मृत्यु सामान्य व्यक्तियों को विवादों से मुक्ति देती है और असाधारण व्यक्तित्व को विवाद के लिए एकदम नया और अपरिभाषित वातावरण। लेकिन अज्ञेय जी ने तो जीवन ही विवाद भरा पाया था। वे साहित्य-मूल्यों और आन्दोलनों में अनेकानेक विवादों के केंद्रबिंदु रहे। इसलिए भी यह बिल्कुल संभव नहीं लगता कि मृत्यु अज्ञेय जी के कृतित्व और व्यक्तित्व को विवादों से मुक्ति दे दे। बस, अज्ञेय के पार्थिव शरीर की भस्मि भर लाने और पत्र-पत्रिकाओं में श्रद्धांजलि का दौर खत्म होने की देर है।

अज्ञेय का साहित्य जिन विवादों से घिरा रहा है उन्हें पुनर्मूल्यांकन की नई भूमि देने की आवश्यकता है। इसके बगैर अज्ञेय जी को वह जीवन नहीं मिल सकता जो किसी महान व्यक्तित्व को उसकी मृत्यु के बाद मिलता है।

अज्ञेय एक अदद साहित्यकार नहीं थे, एक साहित्यिक आन्दोलन—प्रयोगवाद-नयी कविता के नेता भी थे। 'नेता' इस हद तक कि वे इन आन्दोलनों के लगभग पर्याय हो गए थे। प्रयोगवाद के दौर में अज्ञेय की भूमिका दोहरी थी। साहित्यिकों का एक वर्ग वह रहा जिसने अपने को अज्ञेय से जोड़कर अपना विकास किया; दूसरा वर्ग इनसे टकराकर विकसित हुआ। इस तरह 'अज्ञेय' अपने दौर का एक ऐसा कीर्ति-स्तम्भ है जिससे जुड़ना और टकराना दोनों ही हिन्दी साहित्य के विकास की अनिवार्य शर्त-सा बन गया। अज्ञेय के साहित्य पर पुनर्विचार के लिए इस 'शर्त' को हमेशा याद रखना होगा।

संभवतः वह जनवरी, 1978 की एक शाम थी। शिमला के गेयटी थियेटर में अज्ञेयजी की अध्यक्षता में कवि सम्मेलन हुआ था। पिछले साल से पुन: उनका शिमला आने का विचार था। बल्कि यह भी सोच रखा

मैंने देखा एक बूंद

मैंने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझ को भी दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से !

पहला दौंगरा

गगन में मेघ घिर आये।

तुम्हारी याद
स्मृति के पीजड़े में बांध कर मैंने नहीं रखी;
तुम्हारे स्नेह को भरना
पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की
मैंने नहीं चाहा।

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है
उमड़ कर विवश बूंदें बरसती हैं—
तुम्हारी सुधि बरसती है।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से दु:ख जाना था।

दु:ख सबको मांजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिन को मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।
मगर जो हो

अभी तो मेघ घिर आये
यह दौंगरा पहला
धरा ललकी, उठी, बिखरी हवा में
बास सोंधी
मुग्ध मिट्टी की।

भिगो दो, आह !
ओ रे मेघ, क्या तुम जानने हो
तुम्हारे साथ कितने हियों में कितनी असीसें
उमड़ आयी हैं ?

सांप

सांप !
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।

एक बात पूछूं—(उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डसना—
विष कहां पाया ?

सर्जना के क्षण

एक क्षण भर और
रहने दो मुझे अभिभूत :
फिर जहां मैंने संजो कर और भी सब रखी हैं
ज्योतिः शिखाएं
वहीं तुम भी चली जाना
शान्त तेजोरूप।

एक क्षण भर और :
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी नहीं हो सकते।
बूंद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को पकते।

व्याख्यान

स्मृति और देश

□ सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

'हम काल में जीते हैं' यह ऐसी स्वयंसिद्ध बात है कि इसे कहना अनावश्यक होता है। इस लिए जब यह कही जाती है तब श्रोता को यह शंका होती है कि क्या यह बात कहने में वक्ता का आशय कुछ दूसरा है—क्या वह वास्तव में वही नहीं कह रहा है जो कि वह कह रहा है बल्कि किसी दूसरे ही आशय से हमें अवगत कराना चाहता है? इसी बात को उलट कर कहें कि 'काल हम में जीता है'—और बात यों भी कई बार कही गयी है—तो श्रोता कुछ चौंकता है : यह काल के साथ एक दूसरे प्रकार के सम्बन्ध की प्रतिज्ञा है अथवा एक दूसरे प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न है। लेकिन काल, जिसमें हम जीते हैं अथवा जो हम में जीता है, वह है क्या? यह हम नहीं बता सकते। बल्कि जब प्रश्न पूछा जाता है तो अनुभव करते हैं कि हम उत्तर नहीं जानते। सन्त ऑगुस्तीन ने मर्म की बात कही थी जब उन्होंने कहा था कि **'जब तक यह प्रश्न नहीं पूछा जाता तब तक उत्तर मैं जानता हूं जब कोई पूछ बैठता है तब नहीं जानता।'** काल वर्तमानता के रूप में, एक नैरन्तर्य अथवा सातत्य के बोध के रूप में, हमारी अनुभूति सम्प्रेष्य नहीं है, हम उसका वर्णन ही कर सकते हैं। काल की हम परिभाषा करते हैं और हमारी हर परिभाषा काल की अवधारणा के लिए देश अथवा दिक् के आयाम का उपयोग करती है। काल की हमारी हर परिभाषा दिक्-सापेक्ष्य होती है; जैसे कि हमारी दिक् की परिभषाएं भी प्राय: काल-सापेक्ष्य होती हैं। यह कठिनाई हमारे गोचर अनुभवों की सीमा की कठिनाई है जो उन अनुभवों के वर्णन अथवा वृत्तान्त में प्रतिबिम्बित होती है। हमारे गोचर अनुभवों के संसार में दिक्काल के आयाम अलग नहीं किये जा सकते—सत्ता अथवा **रिएलिटी** का हमारा बोध एक दिक्काल-सातत्य में—**स्पेस-टाइम कंटिन्युअम** में—बनता है; दिक्काल के ताने-बाने से ही उस की बनावट रची गयी है।

लेकिन जहां तक बोध का सवाल है—अपने अनुभव के सम्प्रेषण की चिन्ता से मुक्त निपट अनुभूति का सवाल—काल का हमें एक सहज बोध होता है। जिस काल में हम जीते हैं, जो काल हम में जीता है, दोनों ही उस सहज बोध का अंग होते हैं : हम अपने शरीर के प्रत्येक अवयव में भी इस दोहरी गति को सहज ही पहचानते हैं। सत्ता के एक नैरन्तर्य का—भले ही अनुक्षण बदलते नैरन्तर्य का, 'हम थे—हम हैं' के एक सघन संश्लिष्ट सातत्य का सहज बोध हमें होता है। स्पष्ट है कि हमारी स्मृति यहां काम कर रही है। कोई इस बात को यों कहना चाहे कि सातत्य के इस बोध का ही नाम तो स्मृति है, तो फ़िलहाल काल-बोध और स्मृति के सम्वन्ध में हेतु और हेतुमत् का विवाद उठाना अनावश्यक होगा।

साहित्य अकादमी संवत्सर व्याख्यान माला के अन्तर्गत 1 तथा 2 मार्च, 1986 को इंडिया इंटरनेशनल सेंटर सभागार में 'स्मृति के परिदृश्य' विषय पर दिया गया दूसरा व्याख्यान। पहले व्याख्यान का शीर्षक 'स्मृति और काल' था।

—साभार।
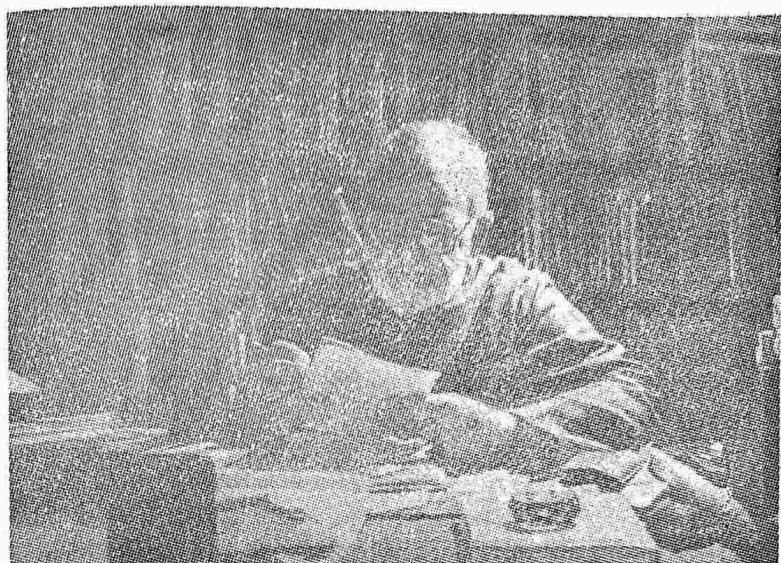
छाया : सिद्धार्थ मित्र

लेकिन काल के सहज-बोध की भांति दिक् का भी क्या कोई सहज-बोध होता है ? काल-सातत्य अथवा नैरन्तर्य की भांति क्या दिक्-सातत्य अथवा विस्तार भी हमारे सहज बोध का एक अंग है ?

जब हम यह कहते हैं कि दिक् और काल एक दूसरे से ऐसे जुड़े हैं कि उनकी अलग परिभाषा भी नहीं की जा सकती, अथवा जब वह आग्रह करते हैं कि चार आयामों वाले दिक्काल-सातत्य की बात करना ही संगत है, तब हमने निहित रूप से यह मान लिया होता है कि दिक् का भी एक सहज-बोध अथवा प्रातिभ ज्ञान हमें होता है। 'हम हैं,' यह कहने में ही हम न केवल अपने काल-गत अस्तित्व के बारे में एक दावा कर रहे होते हैं वरंच अपनी भौतिक सत्ता का भी एक दावा कर रहे होते हैं—दिक् के आयाम में भी अपने को प्रतिष्ठापित कर रहे होते हैं।

लेकिन नैरन्तर्य अथवा विस्तार का बोध करने वाले इस 'मैं' को लेकर बहुत-सी कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं। 'यह शरीर जो मैं हूं,' 'यह शरीर जो मेरा है'—इन दोनों पदों में प्रकट होने वाला 'मैं' क्या एक ही है ? 'मैं' 'मेरा' हूं, यह कहने का क्या मतलब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं देने जा रहा हूं। मैं जानता हूं कि वह करने का प्रयत्न बर्र के छत्ते में हाथ डालने जैसा है। फिर भी ऐसा प्रश्न उठा देना इस लिए भी उपयोगी मानता हूं कि उस से कुछ दूसरे क्षेत्रों के कुछ दूसरे प्रश्नों का उत्तर तो हमें मिल ही जाता है अथवा कम-से-कम जिज्ञासा का क्षेत्र स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। भौतिक शरीर को इन दो सम्बन्धों में रख कर देखने के प्रयत्न का एक लाभ यह होता है कि विस्तार के सहज-बोध का एक आधार हमें मिल ही जाता है। इस शरीर की, जो 'मैं' हूं या जो 'मेरा' है, पहुंच कितनी है, इस का हमें एक सहज अनुभव होता है और वह हमारे दिग्बोध का एक आधार है। जैसे 'मैं वह हूं जिसकी मुझे स्मृति है, मैं उतना हूं जितना मुझे स्मरण है," यह हम काल के आयाम में कहते हैं, उसी प्रकार

"मैं वह विस्तार या देश हूं जहां मैं हूं, मैं उतना हूं जितनी जगह मैं घेरता हूं।"—यह हम दिक् के आयाम में कह सकते हैं। काल-सातत्य में हमारा टिकाव है, दिक्सातत्य हमारी पहुंच है। अगर इस पहुंच के कुछ स्थूल भौतिक रूप हैं और कुछ क्रमश: सूक्ष्मतर होते जाते हैं, तो पहुंच के इन विविध प्रकारों को एक क्रम में रखना भी हमारे लिए सम्भव हो जाता है, भले ही उस क्रम के विभिन्न पदों के सम्बन्धों को हम पूरी तरह न समझ पाते हों। मैं हाथ बढ़ा कर कलम उठा सकता हूं, अथवा बिजली का बटन दबा कर कमरे में प्रकाश कर दे सकता हूं; यह विस्तार का एक प्रकार का बोध है। लड़के ढेला मार कर फल गिरा सकते हैं या शैतानी पर उतारू होने पर किसी के घर के शीशे तोड़ सकते हैं, यह विस्तार का दूसरे प्रकार का बोध है। एक अन्तरिक्षयान यहां से छोड़ा जा कर इतने अर्से के बाद किसी ग्रह तक पहुंचेगा जो इस समय हमारे सामने की दिशा में नहीं है और जो स्वयं निरन्तर चक्कर काट रहा है, यह विस्तार का एक तीसरी कोटि का बोध है। यह कहना काफ़ी नहीं है कि इन का अन्तर केवल मात्रा का—छोटी और बड़ी का, अन्तर है: **एक गुणात्मक अन्तर भी है।** लेकिन प्रत्येक कोटि के बोध में हमारी स्मृति का कितना और कैसा योग है, इस प्रश्न को लेकर कठिनाई हो सकती है। उस कठिनाई का केवल संकेत कर के छोड़ दें और एक दूसरे प्रकार के दिग्बोध की बात करें। शिशु मां की गोद में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। गोद से उतर कर थोड़ी दूर पर खेलता है तो भी सुरक्षा का भाव वैसा ही बना रहता है। कुछ और दूर हट कर, ऐसी जगह पहुंच कर भी जहां से मां उसे नहीं दीखती, वह अपने को उतना ही सुरक्षित अनुभव करता है। मां भी बच्चे के अदृश्य होने पर भी उसके बारे में चिन्तित नहीं होती। लेकिन एक दूरी ऐसी आती है जिस पर बच्चा एकाएक असुरक्षा का अनुभव करता है। ऐसा भी सम्भव है कि वहां से उसे मां दीख भी सकती हो, फिर भी मानो मां से मिलने वाली सुरक्षा की परिधि के वह अपने को बाहर पाता है—सुरक्षा का वह सूत्र मानो टूट गया होता है। मां की ओर से भी ऐसी बात हो सकती है—एक दूरी के बाद वह बच्चे के बारे में एकाएक चिन्ताकुल हो उठे। विस्तार का यह बोध कैसा है? सहज दिग्बोध का यह कौन-सा आयाम है जिसके साथ सुरक्षा-असुरक्षा का भाव जुड़ा हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं जानता। अनेक प्रकार के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक अथवा वैज्ञानिकता का आभास देने वाले अनुमानों की बात जानता हूं। और यह मानता हूं कि जिस अनुभव की बात मैं कर रहा हूं उसे हम सभी ने लक्षित किया होगा।

क्योंकि वह अनुभव हम सभी का परिचित है, इस लिए मेरा विश्वास है कि यह बात भी हम सब स्वीकार कर लेंगे कि यह सहज-बोध कहीं न कहीं हमारी—अर्थात् हमारे उदाहरण की मां और बच्चे की स्मृति से जुड़ा है। **विस्तार की एक सहज स्मृति है।** हमारी स्मृति में विस्तार का—दिक् के आयाम का एक सहज बोध है जिसके साथ हम आत्यन्तिक रूप से जुड़े हैं। वह बोध तभी नष्ट होता है जब स्मृति नष्ट होती है—अर्थात् जब व्यक्तित्व नष्ट हो गया होता है।

दिक् का यह आयाम हमारी सत्ता के साथ जुड़ा है।

जिस तरह काल की प्रतीति को हम जिस ढांचे में रखते हैं अथवा इसे उलट कर यों भी कह सकते हैं कि काल के जिस ढांचे में हम काल की निजी प्रतीति को और अपने वर्तमान को रखते हैं—वह हमारे सारे इतिहास को और अपनी ऐतिहासिक स्थिति की समझ को

प्रभावित करता है, उसी प्रकार दिक् की जिस संरचना में हम अपने को रखते हैं उसी से हमारा सारा भूगोल निर्धारित होता है और फलतः दिक्काल-सातत्य में हमारी अवस्थिति भी निर्धारित और निरूपित होती है। कहने को तो हम कह सकते हैं कि दिक् का विस्तार एक वैज्ञानिक वास्तविकता है, भले ही उसका एक पौराणिक प्रतिरूप भी हो—कि यह पौराणिक प्रतिरूप केवल काल्पनिक या मिथकीय अस्तित्व रखता है। वस्तुतः दिक् के इस आयाम को 'पौराणिक' या 'मिथकीय' कह देने से उसकी यथार्थता और उसकी प्रभावशीलता नष्ट नहीं हो जाती ; हम केवल यथार्थ के एक-दूसरे आयाम की अवधारणा कर रहे होते हैं जो हमें उतनी व्यापकता से प्रभावित करता है।

जिस प्रकार काल की संरचना वर्तमान के उस बिन्दु से आरम्भ होती है जिस पर हम खड़े होते हैं—हमारा कालिक परिदृश्य वहीं से आरम्भ होता है—उसी प्रकार हमारी दिक् की संरचना भी उसी बिन्दु से आरम्भ होती है जिस पर खड़े हो कर हम आस-पास देखते हैं। दिग्विस्तार में हम खड़े हुए हैं, यह वैज्ञानिक सत्य भी है और पौराणिक भी ; किन्तु ये दो अलग-अलग प्रकार के दिग्विस्तार हैं जिनके केन्द्र में हम अपने को रख रहे होते हैं। कहा जा सकता है कि वह 'हम' भी दो अलग-अलग प्रकार के आत्मबोध से सम्बन्ध रखता है।

विज्ञान के दिग्विस्तार को हम कई तरह से देख सकते हैं और वैज्ञानिक आवश्यकतानुसार ऐसा करते भी हैं। वैश्विक दिग्विस्तार को सूर्य-केन्द्रित परिदृश्य में भी देखा जा सकता है और दूसरी ओर (यह बात ध्यान में रखते हुए कि हमारे सौर-मण्डल जैसे और भी अनेक सौर-मण्डल आकाश में बिखरे हुए हैं,) इस बृहत्तर विस्तार के किसी दूसरे केन्द्र की अवधारणा की जा सकती है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि एक बहुकेन्द्रिक विस्तार की बात की जाये। ठीक उसी प्रकार पौराणिक अथवा मिथकीय दिग्विस्तार के बारे में भी कहा जा सकता है। यहां भी देखने वाली एक चेतना केन्द्र में है। लेकिन 'किसके केन्द्र में?' इसके एक से अधिक उत्तर हैं—इसके बावजूद कि एक सामान्य उत्तर हर हालत में बना रहता है कि 'मैं दिग्विस्तार के केन्द्र में हूं', अथवा 'दिग्विस्तार वह है जिसके केन्द्र में मैं हूं।'

'मैं यह शरीर हूं जो कि मैं हूं।'

'मैं इस शरीर में हूं जो मेरा शरीर है।'

'मैं दिग्विस्तार में एक जगह भरता हूं; वह मैं हूं अथवा मेरी है।'

'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे'—विभिन्न आनुष्ठानिक अवसरों पर संकल्प पढ़ते समय हम अपने को काल के एक बिन्दु पर प्रतिष्ठापित करते हैं—'मासानाम् मासोत्तमे अमुक मासे अमुक वासरे' इत्यादि, और उसके साथ-साथ दिक् में भी एक विशेष बिन्दु पर स्थापित कर रहे होते हैं। आनुष्ठानिक रूप से मिथकीय दिग्विस्तार में खड़े होने के कारण ही सारा ब्रह्माण्ड हमारे संकल्प का साक्षी हो जाता है। दिक्-संरचना के ये अनेक रूप हैं जिनका विस्तार अलग-अलग ढंग से अथवा अलग-अलग आयामों में होता है; लेकिन प्रत्येक संरचना के केन्द्र में वही एक चेतना होती है जिसे हम 'मैं' की संज्ञा देते हैं। इन अवधारणाओं की अर्थवत्ता और शक्तिमत्ता को ध्यान में रखते हुए यह कहना उचित नहीं है कि दिक्-संरचना के ये आयाम मिथकीय हैं, इस लिए काल्पनिक हैं, इस लिए मिथ्या हैं। ये सब उतने ही मिथ्या हैं अथवा सत्य हैं जितना हमारा अनुभव, हमारे अनुवभों की हमारी स्मृति, और संचित स्मृतियों के आधार पर बना हुआ हमारा आत्म-बिम्ब।

अनुभव और अनुभव की स्मृति के साथ दिग्बोध को जोड़ने का स्पष्ट आशय यह तो है ही कि दिक्-संरचना का एक मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक आयाम है। दूसरे शब्दों में हम भीतरी, मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक देश की भी अवधारणा कर सकते हैं। 'मैं वह (या उतना) दिग्विस्तार हूं जिसे मैं भरता हूं' यह वाक्य भी जैसे भौतिक अथवा भौगोलिक स्तर पर अर्थ रख सकता है वैसे ही इसका एक मानसिक, मनोवज्ञानिक और सांस्कृतिक आयाम भी है। पक्षी घोंसला बनाते हैं तो स्थूल सीमाओं के घेरे के भीतर चक्कर काट-काट कर एक सूक्ष्म दिग्विस्तार की रचना कर लेते हैं और शायद यह सूक्ष्म संरचना ही पक्षी का असली घोंसला होती है। (या पक्षी का असली घोंसला वह होता हो या न हो, मनुष्य जब घोंसले की अवधारणा करता है तब इस सूक्ष्म संरचना को ही अधिक महत्त्व दे रहा होता है और वह सूक्ष्म संरचना ही रूपक का आधार बनती है, नया मुहावरा देती है, भाषा को समृद्ध करती है।) अनेक चौपाये भी विश्राम के लिए बैठने से पहले चक्कर काट कर एक सूक्ष्म घेरे की रचना करते हैं जो उनके विश्राम स्थल का घेरा होगा, और तभी उसके भीतर बैठते हैं। जिस प्रकार पशु-पक्षी दिग्विस्तार में एक 'अपने देश' की रचना करके उसमें बसते हैं उसी प्रकार मानव प्राणी भी करता है। एक सूक्ष्म देश-रचना की इस प्रवृत्ति का एक पक्ष ऐसा है जो समूची मानव जाति को व्यापता है, दूसरा पक्ष विभिन्न संस्कृतियों से अलग-अलग ढंग से प्रभावित होता है और जो रचता है उसे हम सांस्कृतिक देश अथवा दिक् कह सकते है। मानव शरीर को ही एक भौतिक इकाई के अथवा एक सूक्ष्म जीव के आवास के रूप में देखने के जो परिणाम होते हैं उनकी ओर संकेत हो ही चुका है। दिक्-संरचना का क्रम शरीर के बाहर भी वृत्त रचता चलता है। ग़रीब से ग़रीब भारतीय व्यक्ति भी अपने शरीर को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करता है, भले ही नहा लेने के बाद वह फिर कपड़े मैले ही पहन ले। भारतीय गृहिणी घर-आंगन की सफाई करती है और कूड़ा बाहर गली में फेंक देती है। आधुनिक प्रभा को छोड़ दें तो बाहर से आने वाला व्यक्ति जूते बाहर उतार कर घर में प्रवेश करता है जिससे घर की स्वच्छता दूषित न हो। दूसरी ओर पश्चिम का व्यक्ति कपड़े साफ़ पहनना चाहता है लेकिन शरीर की सफ़ाई के प्रति बहुधा बड़ी उपेक्षा बरतता है जो सदैव निर्धनता के कारण नहीं होती। गली और सड़क और घर के समूचे बाहरी परिदृश्य की स्वच्छता की उसे बहुत चिन्ता रहती है। पर घर के भीतर बर्तन कई-कई दिन तक जूठे पड़े रह सकते हैं। ऐसे ही और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस सूक्ष्म दिक्-संरचना की बात मैंने कही है वह कहां तक संस्कृति से प्रभावित होती है। यह दोहराने की तो आवश्यकता न होनी चाहिए कि सूक्ष्म अथवा आभ्यन्तर देश की रचना के साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह हमारे स्थूल परिदृश्य को भी अनिवार्यतया प्रभावित करता है क्योंकि देश की जिस संरचना के केन्द्र में हमारी चेतना होती है उसके सूक्ष्म और स्थूल रूपों में निरन्तर सम्वाद और सम्प्रवाह बना रहता है। सांस्कृतिक अथवा पौराणिक देश के लिए युद्ध लड़े जाते हैं बल्कि युद्ध अधिकतर उसी के लिए लड़े जाते हैं और उसी से युयुत्सा भी प्रेरणा पाती है : स्थूल भू-विस्तार तो एक निमित्त बन जाता है। दूसरी ओर देश छोड़ने को बाध्य हो गयी जातियां नये देश में अपनी पुरानी सांस्कृतिक दिक्-संरचना की पुन: प्रतिष्ठा कर लेती हैं—एक और अयोध्या अथवा काशी बन जाती है, एक नया कैलाश पर्वत अथवा वृन्दावन बन जाता है—और इस प्रकार अपने विस्थापन में अपने को फिर स्थापित कर लेती है, अपनी 'ज़मीन' से अपने को 'उखड़ने' नहीं देतीं···

अस्मिता की यह पुनःप्रतिष्ठा सत्ता बोध के साथ जुड़ी है, और स्मृति ही उसका आधार है।

सत्ता और स्मृति। स्मृति और कल्पना। कल्पना और बिम्ब। **स्मरण, कवन और कल्पन।** यह असम्भव नहीं है कि शास्त्र-ज्ञान का किसी तरह का कोई प्रकट या निहित दावा किये बिना इन शीर्षकों के या ऐसे किसी शीर्षक के निमित्त से केवल कविता अथवा रचना की भूमि पर खड़े हो कर बात की जाये। लेकिन वैसा करने पर भी एक व्यावहारिक प्रश्न सामने आता है। वैसे विचार के लिए कदाचित् अधिक उपयोगी यही हो कि काव्य से—रचनात्मक साहित्य से—कुछ उदाहरण पहले लिये जायें और उन्हीं को आधार बना कर सामान्य स्थापनाओं की ओर बढ़ा जाये। किन्तु इस पद्धति को व्यावहारिक मान कर भी आज जैसे अवसर पर और ऐसे समाज में, उसकी उपादेयता का भरोसा नहीं कर पाता। क्योंकि इस समाज के वैदुष्य और उसकी सहृदयता को स्वीकार करते हुए भी निश्चयपूर्वक यह नहीं सोच सकता कि उदाहरण के लिए सामग्री किस साहित्य से या कौन-कौन से साहित्यों से ली जा सकती है। बहुभाषी समाज के भाषा-संस्कार तो अलग-अलग होंगे ही, उनके स्मृति भण्डार भी अलग-अलग होंगे। निश्चय ही बहुत-सी समान सामग्री भी उनमें होगी, लेकिन उसकी उपस्थिति का भी मैं अनुमान ही कर सकूंगा। इसलिए उस सम्भाव्य व्यावहारिकता को मान कर भी मुझे दूसरा ही रास्ता पकड़ना अधिक उपयोगी जान पड़ता है—सामान्य विचार और स्थापनाओं का रास्ता, जिस पर कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनके बारे में विश्वास किया जा सकता हो कि वे विभिन्न भाषा-समाजों के परिचित होंगे।

उपनिषदों में एक अनोखे पेड़ का उल्लेख किया गया है जिसकी जड़ें ऊपर को फैली हैं और जिसकी शाखाएं नीचे की ओर बढ़ती हैं। यह **ऊर्ध्वमूलमधःशाखा** वृक्ष क्या केवल एक रूपक है, अथवा हमारे अनुभव से इसका कोई गम्भीरतर सम्बन्ध भी है? अनुभव से सम्बन्ध है तो स्मृति से भी संबंध है। लेकिन स्मृति का एक स्तर यह है कि वृक्ष होता है जिसकी जड़ें और शाखाएं होती हैं—जड़ें नीचे रसवती वसुन्धरा धरती की ओर फैलती हैं और शाखाएं ऊपर प्रकाश से भरे अन्तरिक्ष की ओर। इससे आगे कल्पना इस स्मृति-बिम्ब को उलट कर वह अनोखा पेड़ रच रही है। लेकिन क्या वह अनोखा पेड़ केवल एक अवधारणा है, केवल एक रूपक है, क्या वास्तव में यह अनोखा उलटा पेड़ ही हमारे अधिक गहरे अनुभव का अंग नहीं? **क्या उलटे वृक्ष का यह बिम्ब भी कल्पना-प्रसूत न हो कर हमारी स्मृति का ही अंग नहीं है?** अर्थ-विस्तार के लिए हम इस उलटे वृक्ष के रूपक को लेकर कल्पना को चाहे जितनी छूट दें, क्या कहीं पर यह बिम्ब मानवीय अस्तित्व के आरम्भ का एक स्मरण-बिम्ब नहीं है? क्या भ्रूण की स्थिति ऐसे ही **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखा'** वृक्ष की नहीं है जिसे पोषण देने वाली 'भूमि' ऊपर है और जिसे विस्तार का अवकाश देने वाला 'आकाश' नीचे है? एक अवस्थिति की प्राक्तन स्मृति इस उलटे पेड़ के बिम्ब में संचित है; एक दूसरे प्रकार की अवस्थिति के अनेक बिम्ब भी हम संचित करते हैं जिनमें पेड़ सीधे उगे होते हैं, उनकी जड़ें और उन्हें पोषण देने वाली भूमि नीचे होती है और उन्हें विस्तार का अवकाश देने वाला आकाश ऊपर होता है। और इन दो विपरीत बिम्बों को जोड़ने वाले उनमें एक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव स्थापित कर देने वाले—एक पेड़ को भी हम देख पाते हैं, प्रत्यक्ष भी और प्रस्तर-मूर्तियों में अंकित भी, और यह न्यग्रोध वृक्ष भी हमारी स्मृति में बस जाता है। कवि के लिए वह फिर प्रतीकन और कल्पन के नये मार्ग खोल देता है। लेकिन

स्मृति की महत्ता इसी में नहीं है। उसका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि वह 'ऊपर', 'नीचे' और 'मध्यवर्ती' का एक अमिट बोध हमें देती है—ऊर्ध्वाधरता अथवा अनुलम्बता का दिक् की संरचना के हमारे ज्ञान का, आधार बनती है। जापनी भाषा में मानव की संज्ञा का अर्थ ही होता है 'मानवीय मध्यवर्ती' अर्थात् वहां ऊर्ध्वाधर के, **वर्टिकैलिटी** के, इस बोध को ही मानवीयता की परिभाषा का आधार बना दिया गया है। ऊर्ध्व और अधर के साथ सीधे और उलटे का यह बोध एक तरफ़ हमारे गोचर अनुभवों की आधार-भित्ति है और दूसरी तरफ़ हमारी सर्जनात्मक कल्पना की।

दिक् की संरचना के इस आधारभूत बोध के साथ उस संरचना की समझ के और भी पक्ष जुड़ते जाते हैं। स्थिरता का बोध जगाने वाला चौकोर प्रकोष्ठ, जो धरती अथवा पृथ्वी का प्रतीकन करता है—लेकिन प्रकोष्ठ का प्रतीक-रूप पाने से पहले वह घर के एक आदिम बिम्ब के रूप में हमारी चेतना का अंग बनता है। इस आदि बिम्ब का ही फिर विस्तार होता है: हमारी स्मृति, हमारी कल्पना और हमारी बुद्धि सभी उसी आधार-बिम्ब के ऊपर अपने-अपने ढंग की इमारत खड़ी करते हैं, प्रतीक रचते हैं और संकेतों का आविष्कार करते हैं। घर का अथवा कुटीर का बिम्ब स्थिरता और सुरक्षा का ही बिम्ब नहीं है; वह ऊपर और नीचे, ऊर्ध्व और समतल के हमारे बोध का भी आधार है। घर है तो 'भीतर' और 'बाहर' भी है। और घर है तो छत भी है और तलघर भी। और अनन्तर छत से ऊपर के प्रासाद भी हैं और भू-तल से नीचे के पाताल-लोक भी। प्रश्न उठ सकता है कि इनकी चर्चा करते हुए क्या हम स्मृति-शक्ति की बात कर रहे हैं अथवा कल्पना-शक्ति की? लेकिन मैं पहले भी कह चुका कि स्मृति के बिना कल्पना नहीं है। और यह भी है कि कल्पना से भी हम जो लोक रचते हैं—और कल्पना अनवरत क्रियाशील रहती है—**वे हमारे रचे हुए लोक भी हमारी स्मृति का अंग बनते चलते हैं।** इसी प्रकार हमारे स्वप्न और हमारे दिवास्वप्न हमारी स्मृति का कोश विकसित करते चलते हैं और नयी कल्पनाओं की सम्भावनाओं की रचना करते चलते हैं। स्मृति के भंडार को भी समृद्धतर करते चलते हैं और उससे किसी बिम्ब का आवाहन करने के अपने साधन—अपनी शब्दावली को भी बढ़ाते चलते हैं। साथ-ही-साथ हमारे स्वप्न और दिवास्वप्न वास्तविकता को अथवा यथार्थ को नापने-कूतने और समझने के हमारे साधनों को और हमारे सामर्थ्य को बढ़ाते चलते हैं।

ऊपर, नीचे और मध्य। स्थिर और सुरक्षित। घर के ये अन्तरग्रथित और परस्पर-भेदी स्मृति-बिम्ब हमारे विश्व की संरचना के आधारभूत बिम्ब हैं। छत और तलघर की बात मैंने अभी कही; लेकिन दुर्ग, गढ़, नगर, ग्राम, दुर्ग-द्वारका और पूरयोध्या अथवा अयोध्या की रचना का आरम्भ भी यहीं से होता है। कुटीर की आधारभूत स्मृति की शक्ति ही इस सबकी कल्पना का भी आधार बनती है और उनकी संरचना, उनके निर्माण का आधार भी। और क्योंकि ऊपर और नीचे, भीतर और बाहर की अवधारणा हमारी स्मृति के इस कुटीर के साथ आधारभूत रूप से जुड़ी हुई है, इसलिए हम अपनी देह को भी अपने दुर्ग के रूप में देख सकते हैं—**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या** अथवा **हाउस ऑफ़ गॉड**—और सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने एक आवास अर्थात् घर के रूप में भी पहचान सकते हैं—**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।**

और हम भरे-पूरे आवासित दिक् को भी जान लेते हैं जो हमारा संसार है, और उस महारिक्त को भी जान लेते हैं जो कि आज विज्ञान का दिक् अथवा आकाश है—**एम्प्टी स्पेस**

—लेकिन जिसे हम 'शून्य' कहते हैं, अर्थात् रिक्त नहीं बल्कि वह जो रिक्त को भरता है, जैसे छत्ते को मधु भरता है; दिक् जो स्वयं निरालोक है लेकिन जिसमें ही पड़कर जो कुछ चमकता है वह चमकता है।

मैंने चौखूंटे प्रकोष्ठ को आदिम घर अथवा कुटीर कहा है और फिर दुर्ग और नगर के विस्तार की बात की है। जब तक यह घर एक कुटीर है तब तक उसकी छत और उसका फ़र्श दिक् की हमारी संरचना में कुछ और स्थान रखते हैं। और उसकी स्मृति के स्रोत उस घर-कुटीर से भी जुड़ते हैं जिसमें जन्म हुआ, उससे पहले की गर्भस्थ अवस्था से भी। दिवास्वप्न उस स्मृति के द्वार खोलता है और वहां से रचनाकार की कल्पना नयी दृष्टि पाती है। दुर्ग और नगर और अनेक मंज़िलों वाली इमारतें हमारी दिक्-संरचना को नया विस्तार देती हैं पर साथ ही उसे विकृत भी करती हैं। शहर के घर में छत के ऊपर आकाश नहीं होता, दूसरे घर का फ़र्श होता है। नीचे भी बहुधा जमीन नहीं होती बल्कि दूसरे घर की छत होती है। मनुष्य ऊर्ध्वाधरता के आयाम में तो रहता है, पर दूसरे मनुष्यों के सिर पर सवार होकर या उनके पैरों के नीचे दबा हुआ। विकृति का और भी महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि जहाँ कुटीर के साथ एक द्वार अथवा झरोखा और उसमें टिमटिमाता दीये का प्रकाश होता है—एक समग्र बिम्ब जिसमें सुरक्षा भी है और आशा भी—वहां शहरी स्थिति में उसका स्थान अनेक प्रकार के विकृत और विखण्डित बिम्ब ले लेते हैं। अकेलेपन के बोध के लिए गुंजाइश कुटीर वाली आदिम स्थिति में भी रहती है : दूर प्रकाशित झरोखे वाले कुटीर को देखती हुई चेतना उस सूने विस्तार का भी अनुभव करती है जिसमें वह अकेली है :

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे नभ के
विस्तृत आंगन में
सहमा-सा रख दिया गया,

लेकिन फिर भी उस अकेलेपन में कुटीर के साथ उस चेतना का संबंध आश्वस्ति का संबंध रहता है। शहर का कमरा वैसे आश्वस्ति भाव के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। शहर के कमरे की ओर ताकती हुई चेतना अपने को अकेला पाती है तो वह अकेलापन सूने खुले विस्तार का अकेलापन नहीं होता बल्कि एक सुरंग का अथवा बोगदे का अकेलापन होता है!

गांव-घर और शहर-घर की बात हो रही है तो यह भी संकेत कर दिया जाये कि शहर का घर जब बोगदे का रूप ले लेता है तो दिक् के साथ कोई धनात्मक रिश्ता बनने की संभावना नहीं रहती। दूरी वहां है, चलना भी वहां है, लेकिन सफ़र के अन्त के साथ जुड़ा हुआ आश्वासन अथवा उपलब्धि का भाव नहीं है। अकेलापन है, वीरानगी है, वंचित किये गये होने का भाव है, प्रतिहिंसा है—एक लक्ष्यहीन अंधी जिघांसा है। दूसरी ओर कुटीर का झरोखा मानो कुटीर की आंख है, अपलक बाट जोहती हुई आंख। कह सकते हैं कि इस प्रकार बोगदा भी और कुटीर भी जितने दिक् के बिम्ब हैं उतने ही काल के भी; लेकिन एक में काल सूखा और विजडित है, दूसरे में रससिक्त और स्पन्दनशील।

देश की संरचना और उसका विकृतियों-विसंगतियों की, जिनकी बातें मैं कह रहा हूं, सभी के उदाहरण प्रभूत मात्रा में समकालीन साहित्य में मिल जायेंगे, जैसे कि आधारभूत बिम्बों के उदाहरण संस्कृत और अपभ्रंशों के साहित्य में। ग्राम-चेतना और नगर-बोध और

महानगर-चेतना की समकालीन बहसें भी उनके साथ जुड़ जायेंगी।

इस बात की ओर भी संकेत किया जा सकता है कि जिस ऊर्ध्वाधर अथवा अनुलम्ब संरचना खा उल्लेल मैंने पहले किया उसकी अवधारणा भी दिक् तक सीमित नहीं रहती बल्कि काल की भी एक संरचना हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। 'ऊपर' 'बीच' और 'नीचे' (या उपनिषद् के अनोखे वृक्ष को सामने रखते हुए प्रतीप क्रम के नीचे, मध्य में और ऊपर, भू: भुव: स्व:) दिक्-संरचरा से विचलित होकर काल-संरचना में भविष्य, वर्तमान और अतीत, 'आगे', 'यहां', और 'पीछे' में परिवर्तित हो जाते हैं। वास्तव में तो यह एक समान्तर संरचना नहीं है बल्कि उस दिक्काल सातत्य के बारे में ही दो तरह के बयान हैं जिसकी बात मैंने पहले भी कही थी : अन्ततोगत्वा तो दिक् और काल एक अविभाज्य संरचना के ही अंग हैं।

मुझे कदाचित् आतंकित होना चाहिए कि अब तक की चर्चा में मैंने कितनी विधाओं, कितने शास्त्रों के क्षेत्र में हाथ डाला है जिनमें किसी की भी विधिवत् दीक्षा मुझे नहीं मिली है, किसी का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। 'जहां न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि' और **'फ़ूल्स रश इन व्हेयर एंजेल्स फ़ियर टु ट्रेड'** की व्यंजनाओं में बहुत दूरी नहीं होती। लेकिन कवि जब किसी सहज अथवा प्रातिभ ज्ञान के प्रति खुले रहने का दावा करता है, अथवा दावा नहीं भी करता तो ऐसा विश्वास रखता है कि ऐसे खुलेपन में ही वह समय-समय पर उस दिव्य आलोक का संस्पर्श पा सकेगा जिसमें ही सर्जना-कर्म होता है, तब वह यह भी मान लेता है कि समय-समय पर उसके द्वारा ऐसे अनधिकृत काम भी होते रहेंगे !

मैंने कहा कि मुझे शायद आतंकित होना चाहिए, लेकिन आतंकित मैं हूं नहीं। क्योंकि आलोक के क्षणों में जो परिदृश्य खुल जाते हैं उन्हें किसी शास्त्र-सम्मत व्यवस्था में जोड़ने का काम कवि का नहीं है। वह काम तो शास्त्रज्ञों का है। कवि को मिलने वाले आलोक को भी मैंने दिव्य इसीलिए कहा कि वह स्मृति का आलोक है और वह स्मृति तर्कातीत है। स्मृति के परिदृश्य इतिहास के परिदृश्य नहीं हैं बल्कि इतिहास से मुक्ति के परिदृश्य हैं। वह दिव्य प्रकाश तथ्यों को मूल्यों से वेष्टित करता है; यदि हम उन मूल्यों को नकारते अथवा मिटा देते हैं तो उन तथ्यों का भी कोई अस्तित्व नहीं रहता। कवि के लिए यह मुक्त करने वाला मूल्य ही केन्द्रीय तत्त्व है और उसी के आस-पास सारा संसार घूमता है। कवि के लिए दिक्काल की बाहरी संरचना दिक्काल के एक आभ्यंतर बोध का आवेष्टन है। अवश्य ही इन दोनों संरचनाओं में एक अभिन्न और परस्पर-भेदी सम्बन्ध है; बाहरी संरचना कबीर की **'झीनी चदरिया'** नहीं जो उतार कर **'जस की तस धर दी'** जा सकती है; जैसे कि भीतर की संरचना भी केवल बाहर की संरचना की एक उपज नहीं है। कवि की इन उद्भावनाओं में कभी अन्तर्विरोध भी होता है तो वह उससे हतप्रभ नहीं होता, भले ही वह वाल्ट व्हिटमैन की तरह ललकार कर यह न कह दे कि **"मुझ में अन्तरविरोध है तो क्या हुआ, मैं विराट् हूं और समूहों को अपने में समोये हूं।"**

विराट् का यह बोध ही सर्जनात्मक स्मृति का एक महत्वपूर्ण परिदृश्य है। कवियों के विराट्-दर्शन के वृतान्त उस प्रकार सुरक्षित नहीं रखे जाते जिस प्रकार पुराण पुरुषों के अथवा धर्मगुरुओं के विराट्-रूप-दर्शन के वृतांत रखे जाते हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कवि को जब ऐसी झांकी मिलती है तो वह ऐसा नहीं मान लेता कि उसने सम्यक् सत्य का अंतिम स्वरूप देख लिया है अथवा उसे शब्दों में बांध लिया है; फिर वह प्रभाव उसमें सदैव

बना भी नहीं रहता है। दिव्य आलोक उस दीवाने को जब तब छूता है, पर फिर उसकी धारा आगे निकल जाती है। महाप्रभु चैतन्य ने सागर में एक विराट्-रूप का दर्शन किया था जो उनके प्रिय का रूप था और जिसमें उन्होंने लय हो जाना चाहा था। भगवान बुद्ध ने एक-दूसरे विराट् का दर्शन किया था जिससे उन्हें संबोधि प्राप्त हुई थी; यह विराट रूप भी एक तरह से अंतिम सत्य का ही रूप था यद्यपि तथागत का यह आदेश था कि उस सत्य को जो कोई देखे अपने ही प्रकाश में देखे उनके उपदेश में श्रद्धा के सहारे नहीं : 'अप्प दीपो भव।' आत्म-दीप कवि भी होता है, और कदाचित् उसके दीप की लौ से असंख्य दूसरे दियों की बत्तियां आग पकड़ती हैं। लेकिन कवि का विराट्-दर्शन अंतिम नहीं होता। शायद यह कहना भी अन्याय न हो कि कवि का विराट् दर्शन होता भी नहीं। यह विराट् के स्वरूप को नहीं देखता बल्कि केवल यह बोध प्राप्त करता है कि विराट् है—और वह भी जब तब, विरल क्षणों में। इसी बोध का प्रकाश उसके शब्द को दीप्त कर जाता है और उसकी भाषा को अपूर्वानुमेय बना जाता है। भाषा एक सामाजिक समय है; समाज में संप्रेषण का आधार वही हो सकता है जो न केवल पूर्वानुमेय है वरंच जिसके प्रत्येक पद का एक निर्धारित मूल्य हो। इस अर्थ में भाषा एक और अनेक को परस्पर एक-दूसरे से बाँधती है, जैसे कि वह शब्द-व्यवहार को समय से बांधती है। **सर्जनात्मक भाषा समय से ऊपर उठती है, अपूर्वानुमेय होती है, संप्रेषण की नई प्रणालियां ही नहीं, संप्रेष्य नया संसार भी रचती है। इस प्रकार रचनात्मक भाषा बन्धनों से मुक्त करती है और मुक्ति के नए गलियारे उद्घाटित करती है।**

यहां पर कदाचित् एक बात की ओर इशारा कर देना उपयोगी हो। रचनात्मक साहित्य पढ़ने वाले सभी लोग जानते हैं कि भाषा की जिस अपूर्वानुमेय शक्ति की बात मैं कह रहा हूं उसका वास शब्द में होता है। भाषा को मैंने एक व्यापक सामाजिक समय के साथ जोड़ा है क्योंकि संवाद का पहला आधार तो यही होता है। लेकिन रचनात्मक भाषा इस समय से ऊपर उठती हुई हमें परे ले जाती है; इसी में तो उसकी सर्जनात्मक शक्ति अथवा अपूर्वानु-मेयता है, यही तो हमें समय से मुक्त करती है। यह शक्ति शब्दों के सामान्य अर्थों में नहीं होगी यह तो स्पष्ट ही है। सामान्य अर्थ तो सामाजिक समय से बंधा है। लेकिन यह शक्ति रचनात्मक शब्द की गूंज और अनगूंज तक भी सीमित नहीं है। रचनात्मक शब्द की गूंज होती है, उससे फिर अनुगूंजें अनेक दिशाओं में फैलती हैं। काव्य का जो शब्द इस प्रक्रिया को जितनी गहराई और व्याप्ति देता है उसके आधार पर हम काव्य को उतना महत्व देते हैं और उसका प्रभाव उतना टिकाऊ भी होता है। लेकिन मुक्त करने वाली प्रक्रिया की यह अंतिम सीमा नहीं है, यह समझ लेना भी जरूरी है। आलोचकों में ऐसे लोग हैं जो मान लेते हैं कि यही वह अनुरणन है जिसकी चर्चा पुराने काव्य-शास्त्रियों ने की। वास्तव में अनुरणन इससे परे की चीज है—प्रभाव का एक दूसरा ही आयाम अथवा विस्तार है। गूंज और अनुगूंज को हम एक लगातार एक ही उत्स अथवा आनुम्भ बिन्दु से जोड़े रहते हैं। अनुरणन एक व्यापकतर प्रभाव है जो बहुकेन्द्रिक हो जाता है; जो सत्ता के दूसरे कई स्रोतों से भी ऊर्जा प्राप्त करता चलता है। श्रेष्ठ काव्य की एक गूंज ऐसी भी होती है जो कालांतर में प्रकट होती है। जिसका असर दूसरी विद्याओं में, ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में क्रियाशील हो जाता है। ऐसे अपूर्वानुमेय प्रभाव भी अनुरणन हैं, केवल गूंज नहीं।

काव्य की इस दूरागत प्रभविष्णुता को स्मृति का ही एक रूप मानना होगा। उसको

समझने में कठिनाई होने के कारण उसे पूर्व जन्म के संस्कारों से जोड़ा जाता है। लकिन है वह स्मृति का ही एक सर्जनात्मक आयाम।

इस सर्जनशीलता का आधार क्या है, स्रोत कहां है ? इसका सीधा और आसान उत्तर है—'कल्पना' में। लेकिन यह कल्पन, कल्प रचने की यह शक्ति अथवा प्रतिभा, इसका आधार क्या है ? इसके निश्चय ही दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं और उनमें से कुछ उत्तर सीधे और आसान भी जान पड़ेंगे। एक तरह के सीधे उत्तर उन्हें तोष देंगे जो ईश्वर को नकारते और आधारभूत भौतिक सत्ता पर आग्रह करना चाहते हैं। कवि के लिए इन दोनों में से कोई एक प्रतिज्ञा आवश्यक नहीं है, क्योंकि इनमें से किसी एक को काटना भी उसके लिए जरूरी नहीं है। इस क्षेत्र में जरूरी कुछ है तो यही जानना कि अगर दोनों प्रतिज्ञाओं में से किसी एक से भी आरंभ करके भी सर्जना-कर्म हो सकता है, विराट् तत्व का बोध हो सकता है, भाषा की अपूर्वानुमेय शक्ति आप्त की जा सकती है, और मुक्ति का आवाहन किया जा सकता है तो वह क्या हो सकता है जो इन दोनों के बीच सेतु का काम करे ? वह कौन-सा परिदृश्य हो सकता है जो इन दोनों के लिए रास्ते खुले रखते हुए हमारे लिए विराट् का संस्पर्श पाने की संभावना बनाए रखे हमारे चिदाकाश में भी वह दिव्य आलोक झरने दे जिसका मैंने पहले उल्लेख किया है ? वह परिदृश्य स्मृति का ही परिदृश्य हो सकता है। यह जरूरी नहीं है कि हम इस स्मृति को 'पूर्वजन्मों' के सौहृदों की पर्यत्सुक करने वाली स्मृति' मानें जैसे कालिदास ने संकेत किया था, न यही जरूरी है कि हम उसे अचेतन में छिपी मगर सुरक्षित जातीय स्मृति मानें, जैसी कि कार्ल युग की अवधारणा है। यह भी जरूरी नहीं है कि वह रम्य और मधुर वस्तुओं को देखकर ही जागृत हो, अथवा उसके संस्पर्श के लिए जंगलों—देहातों में घूमना अथवा नदी, झरनों-पेड़ों का सानिध्य आवश्यक हो। उसके लिए तो अपने प्रति खुला रहना ही एकमात्र जरूरी शर्त है : यह अपनापन ही वन्य भी है, देहाती भी, शहरी भी, प्राचीन भी और समकालीन भी; यही स्मृतियों का भंडारण भी करता है और उनका संयोजन-संपादन भी; यही उन्हें आवाहन होने पर उपलब्ध भी कराता है और उनकी ऊर्जा को सर्जक के द्वारा उपयोज्य बनाता है।

प्राग्बिम्बों की स्मृति दोनों अवधारणाओं में अक्षुण्ण बनी रहती है। ये प्राग्बिम्ब ही हममें एक पर्युत्सुकीभाव भी जगाते हैं और हमें मुक्ति की प्रेरणा भी देते हैं। और ये प्राग्बिम्ब स्मृति के ही बिम्ब हैं स्मृति का परिदृश्य ही हमारी बेचैनी और उत्कंठा का भी परिदृश्य है, हमारी सर्जनात्मक कल्पना और हमारी संभाव्य मुक्ति का भी। आधुनिक प्रोद्योगिकी और संचार व्यवस्था का सारा जोर इस पर है कि जानकारियों का निरन्तर वर्धमान भंडार हमारे बाहर हमारे भंडार केन्द्रों में संचित होता जाय और परिणामत: हम कुछ भी स्मरण रखने की आदत और जरूरत से छुट्टी पा जाएं। **और कवि की कल्पना की, उसकी सर्जनात्मक स्मृति की प्रतिज्ञा है कि वह हमें भूलने नहीं देगी।** लोग कभी-कभी पूछते हैं कि इक्कीसवीं सदी में—कम्प्यूटरों की सदी में—कविता की जरूरत क्या होगी ? हमारी स्मृति का परिदृश्य ही हमारे उत्तर में विश्वास का बल भरता है—कि **अगर हमें तब अपनी ही कोई जरूरत होगी तो कवन की—काव्य के रचना-कर्म की—भी जरूरत होगी। जब—और अगर—हमने अपने को ही गैर जरूरी बना दिया होगा तब की बात दूसरी है। और वह बात दूसरों के करने की है, न कवि के, न सहृदय के।** □

छाया : सिद्धार्थ मिश्र

एक यायावर की याद

□ शंकर दयाल सिंह

राजा जनक ने सीता-स्वयंवर के लिए शर्त रखी—जो भगवान शिव के इस धनुष को तोड़ेगा, उसी के गले में सीता जयमाला डालेंगी। उस युग में राम थे उन्होंने जनक के इस प्रण को पूरा किया और सीताजी ने उनके गले में वरमाला पहना दी।

युगों बाद द्रुपद ने अपनी बेटी—द्रौपदी के स्वयंवर में उसी परम्परा का उद्बोध किया—जो वीर नीचे जल में देखकर ऊपर टंगी मीन की आंखों को छेद देगा, द्रुपद-सुता उसी को वरमाला डालेंगी। उस युग में अर्जुन थे अतः द्रौपदी क्वांरी नहीं रहीं और उन्होंने अपनी वीरता की दुदुंभि मीन की आंखों को छेद कर बजाई।

लेकिन वर्तमान युग कुछ और ही है—जहां एक जीवित प्रश्न बहुतों के सिर का चक्कर लगा रहा है—वह है अज्ञेय को ज्ञेय बनाने का।

इस संबंध में एक सार्थक प्रयास किया डा० रामकमल राय ने—'शिखर से सागर तक' लिखकर, जो 'अज्ञेय' की जीवन-यात्रा है। लेकिन लेखक 'चुनौती' स्वीकार करते हुए भी अपनी सीमा को जानता है—"मेरा उद्देश्य यह नहीं रहा है और न यह मेरे लिए संभव ही है कि मैं अज्ञेय के इतने विराट फलक पर जिये गए जीवन का विस्तृत या अपेक्षाकृत पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकूं। इसके लिए बहुत अधिक परिश्रम, जानकारी एवं अन्तरदृष्टि की जरूरत है। दूसरे अज्ञेय का जीवन—जैसी कि उनकी रचनाएं, निरंतर विकासशील रहा है। बराबर उसमें से नये अर्थ खोजने और पाने की गुंजायश है। अतः यह जीवनी मात्र एक दिशा-संकेत ही कही जा सकती है।"

डॉ० विद्यानिवास मिश्र अज्ञेय जी के अभिन्न सखा सहचर हैं, अतः उन्होंने राजपाल-सीरीज में 'अज्ञेय' का संपादन किया तो जीवन के क्रम में लिखा—"1945 से 1964, ये बीस वर्ष अज्ञेय के जीवन में यथार्थ और आदर्श के संघर्ष और उस संघर्ष के अपने-आप प्राप्त समाधान

के कारण बहुत महत्व रखते हैं। ये बीस वर्ष साहित्यिक कुतूहल के विषय बने रहे, इसने भी एक अतिसंवेदनशील व्यक्तित्व को भीतर से मथा है और उसके अमृत स्वत्व को निखारा है। इसी अवधि में वे गृहस्थ बने हैं और गृहस्थ धर्म की पूरी आस्था के साथ। इसी अवधि में भारत-जननी के प्रति उनकी आवेगमयी निष्ठापूर्ण श्रद्धा भावातम्य में परिणत हुई है। इसी अवधि में वे बहुत बड़ा समय विदेश में बिताकर बार-बार स्वदेश लौटते रहे, बार-बार 'स्व' के विस्तार का समाधान 'स्व' में गहरे प्रवेश के द्वारा ही पाते रहे। इस अवधि में वे निरखे गए, खरादे गए, तपाए गए, चमकाए गए और इसी अवधि में संशय, कानाफूसी, ईर्ष्या, द्वेष और अभिसंधि के शिकार बनते रहे। इस प्रक्रिया ने उन्हें प्रौढ़ता दी, साथ ही अतिशय विनम्रता भी; अनुभवों की समृद्धि दी, साथ ही अनुभूति की अपर्याप्तता की प्रतीति भी; शालीन सामाजिकता दी, साथ ही व्यक्ति के एकाकीपन की गहरी संवेदना भी। ये वर्ष उनकी रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से इसीलिए समृद्ध और संकुल वर्ष रहे हैं।"

मेरा उद्देश्य न तो अज्ञेय जी का जीवन-लेखन है और न ही उनके साहित्य का विश्लेषण। दोनों से परे मेरे लेखन में मात्र उन क्षणों का उभार है, जो उनके और मेरे मिलन के साक्षी रहे हैं।

यहां मैं यह स्पष्ट कर दूं कि अज्ञेय जी के साथ मेरा बहुत दिनों का कोई ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहा, जिसके बल पर मैं यह दावा करूं या ताल ठोकूं कि वे मेरे अभिन्न थे। उनकी और मेरी आयु की सीमारेखा भी पिता-पुत्र के समान थी, लेकिन उनकी महानता थी—जो वह बराबर मुझे भी मित्रवत् समझते थे, और उनके उस मित्रभाव में कहीं कोई गुमान नहीं था। और न मुझे उनके अंदर किसी प्रकार का कोई 'बॉसिज्म' दिखाई पड़ा।

एक बार मुझसे डा० कर्णसिंह ने पूछा—शंकर, तुम इतना बोलते हो और वात्स्यायन जी इतने मौन रहते हैं तब फिर तुम लोगों में इतनी पटती कैसे है?

इस पर मैं हंसा और बोला—डॉ० साहब, अज्ञेय जी के समान श्रोता का मिलना मेरे जैसे वक्ता के लिए सौभाग्य की बात है। फिर उनका मौन ही मुखर है। मैं जितना बोलकर अपनी बात न कह पाता हूं, उससे बहुत अधिक वह मौन रहकर हमें कह देते हैं। ठीक वही बात आज अज्ञेय जी के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वह न रहकर भी हमारे बीच सतत हैं।

मैं अज्ञेय साहित्य का बचपन से ही पाठक रहा लेकिन 'जागरूक पाठक' होने का दावा नहीं कर सकता। इसकी जिम्मेवारी या ठेकेदारी उन समीक्षकों या प्राध्यापकों की अवश्य है, जिनके लिए अज्ञेय कभी कालग्रह रहे, कभी प्रतिक्रियावादी और कभी 'आउट ऑफ डेट'। मेरे लिए अज्ञेय बराबर समान रहे। जब वे थे तब भी और आज नहीं रहे, तब भी।

उनका और मेरा परिचय-संपर्क का कालखंड महज दस-बारह वर्षों का रहा। इनमें अंतिम पांच-सात साल बहुत निकट के रहे, जब कम से कम सौ पचास बार मेरा उनका मिलना बैठना जरूर हुआ होगा। इन्हीं पांच-सात वर्षों के कालक्रम में यात्राओं, शिविरों और व्याख्यान-मालाओं के दौरान कम से कम 60-70 दिन हम साथ जरूर रहे होंगे। उनका व्यक्तित्व एक ओर इस्पात के समान तना हुआ था, तो दूसरी ओर नवनीत के समान मुलायम।

उनके व्यक्तित्व का आयाम बहुत विस्तृत था। साहित्यकार और पत्रकार होना उनका कोई विशेष परिचय नहीं कहा जाएगा। कलाविद्, पुराविद्, संगीतज्ञ, कारीगर, अन्वेषक, यात्री, चिंतक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, भाषा-विद्, योद्धा, शिल्पी, सौन्दर्यशास्त्री, फौजी, तकनी-

शियन, छायाकार इन सभी आयामों में उनके व्यक्तित्व का विस्तार था। इसीलिए वह जहां कहीं होते थे आसानी से यज्ञ के लिए होता और पुरोधा दोनों बन जाते थे।

पहली बार मैंने उन्हें काशी में राय कृष्णदास जी के घर पर देखा था—1955 या 1956 में। दूसरी बार नलिनजी के साथ देखा था 1957 या 1958 में। तीसरी बार दिनमान के संपादक के रूप में मैंने उन्हें देखा था—1967 या 68 में। चौथी बार उनसे स्वयं मिलने गया था जब वे नवभारत टाइम्स के संपादक थे। उनके कक्ष में मैंने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'कहीं सुबह : कहीं शाम' उन्हें भेंट की थी, जो उन्हें ही समर्पित है। पांचवी बार हमारी मुलाकात समाचार भारती के बोर्ड की बैठक में हुई थी, जहां हम दोनों साथ-साथ सदस्य रहे। छठवीं से बारहवीं-पंद्रहवीं मुलाकात भी इसी क्रम में होती रही। और तब एक दिन सहसा केवेन्टर्स लेन के उनके निवास पर मैंने अपने को खड़े पाया, जहां स्वागत की मुद्रा में इलाजी मिलीं। तबसे आज तक जब कभी कैवेन्टर्स लेन गया, लगा ही नहीं कि किसी पराए घर में पांव रख रहा हूं।

ईमानदारी से मैं स्वीकार करूं कि इसमें इलाजी का बहुत बड़ा सहभाग है—अपना बनाने में, कुरेदने में, काम की व्यावहारिक बातों को फुर्ती से निपटाने में, स्वागत में, विदाई में, कभी जाने-अनजाने ही आहत कर देने में।

अज्ञेय जी में कुछ अजीब बात थी जो किसी को भी अपनी ओर आकर्षित करती थी। उनका संगमरमरी व्यक्तित्व, आर्योचित कद-काठ, संकोची स्वभाव, अधिकतर 'रिजर्व' रहने की प्रवृत्ति तथा बिन बोले भी बहुत कुछ कह देने की उनकी क्षमता अन्यों से उन्हें भिन्नता प्रदान करती थी।

अज्ञेय जी जब तक रहे विवादों से घिरे रहे—साहित्यिक विवाद तथा पारिवारिक विवाद, उनके नहीं रहने के बाद भी उन विवादों का सिलसिला बिल्कुल बंद नहीं हुआ है।

मुझे कई बार हंसी आई है, गुस्सा आया है, रोष हुआ है, शर्म आई है तथा मिचली आई है, लोगों के सवालों पर या फिर उनकी सोच पर। उत्तरों के लिए बड़े-छोटे, अपने-पराए कई लोगों ने मुझे कई बार कुरेदा है। कुछ ने शुद्ध हृदय से, तो कइयों ने कांईयापन से।

भारत-भारती पुरस्कार कौन ग्रहण करेगा ? अज्ञेय जी की संपत्ति का हकदार कौन होगा ? वत्सल-निधि अब क्या कर रही है ? अज्ञेय जी द्वारा निर्मित उस 'वृक्ष-घर'—का क्या हुआ ? अज्ञेय जी क्या कोई वसीयत छोड़कर गए हैं ? अज्ञेय जी की 'रायल्टी' किसे मिलेगी ? अज्ञेय जी की पांडुलिपियां कहां हैं ?

इस तरह के अज्ञेय जी के नितांत व्यक्तिगत जीवन से जुड़े अनेत प्रश्न मेरे मन को रोज छलनी करते रहते हैं, जिनमें से किसी का भी उत्तर मैं नहीं देता हूं और न देना चाहता हूं।

अज्ञेय जी थे तब भी और आज जब वे नहीं हैं तब भी, मेरे लिए वह श्रद्धा के पात्र हैं। और इलाजी, उनकी आंखों में आज भी कोई झांककर देखे, वहां अज्ञेय के सिवा और कुछ नहीं है।

सच्चाई क्या है ? यही तो कि इलाजी ने अज्ञेय जी से शादी न की, पत्नी न कहलाई, 'वात्स्यायन' नाम धारण न किया, लेकिन विधवा हुईं।

अज्ञेय जी के निधन के बाद एक पत्रिका के संपादक ने मुझे बुरी तरह घेरा—'अज्ञेय-इला' संबंधों के बारे में कुछ लिख दीजिए।

क्या लिखूं ? मैंने जानना चाहा, तो वे बोले—यही कि इलाजी अज्ञेय जी की वही थीं; जो सार्त्र की साइमन द बुआ ।

मैंने गंभीरता से कहा—इलाजी उन सबों से भिन्न थीं या हैं । इनके त्याग, समर्पण, प्यार तथा निष्ठा के पासे में भी साइमन द बुआ नहीं आ सकती ।

इस वाक्य को कहते हुए मेरे कानों में इलाजी का वह वाक्य रह-रहकर कौंध रहा था—"शंकर दयाल जी, वह आदमी बच्चों की तरह एक घंटे तक मेरी ओर देखता रहा। उसकी छटपटाहट को मैं भूल नहीं सकती । मैं कुछ नहीं कर सकी। वह बार-बार कहता रहा —"मुझे सांस चाहिए; मुझे हवा चाहिए' । उसकी निरीह आंखों को मैं कैसे भूल पाऊंगी ।" यह कहते-कहते इलाजी रोने लगीं ।यह अज्ञेय जी की अंत्येष्टि के बाद की रात थी।

अज्ञेय जी के पार्थिव शरीर को सेते, उनकी अरथी को बिदा देते, उन्हें चिता पर सुलाते, उन्हें किसी के द्वारा मुखाग्नि देते, निगमबोध घाट से लौटते, दूसरे दिन भी चिता की राख से फूल चुनते—जिन लोगों ने इलाजी को पत्थर बने देखा, वे कभी उन क्षणों को भूल नहीं सकते ।

अज्ञेय जी ने जिस प्रकार अपने जीवन में अनेक प्रश्न बिखेरे, वैसे ही उनकी मृत्यु के बाद भी प्रश्नों की लंबी कतारें और भी बढ़ती चली आ रही हैं।

वीणा के तारों को ज्यादा कसना या फिर उन्हें जरूरत से अधिक ढीला छोड़ देना—दोनों स्थितियां खतरनाक हैं। अज्ञेय जी को याद रखना और अज्ञेय जी को भूल जाना दोनों मेरे लिए असह्य हैं ।

मृत्यु के ठीक तीन महीने पूर्व वे तथा इलाजी मेरे आग्रह पर मेरे लड़के राजेश की शादी में भाग लेने पटना आए । तीन दिनों तक वे वहां रहे तथा बारात दरवाजा लगाने से लेकर दूसरे दिन के भोजन में भी परिवार के समान शामिल हुए। 10, 11, 12 दिसम्बर, 1986 को पटना या बिहार की यह उनकी अंतिम यादगार यात्रा है ।

चूंकि उनका निमित मैं था, अत: कैसे भूल सकता हूं उनकी उस ऊंचाई को जिसको नापते समय हर कद बौना नजर आता है । इस यात्रा में मैंने अपनी व्यस्तता के कारण भाई रामचन्द्र खान, उषा जी तथा जितेन्द्र बाबू को उनका और इलाजी का भार सौंपा था। अज्ञय जी जब पटना से विदा होने लगे तो एक ओर ले जाकर उन्होंने मुझसे कहा—दिल्ली आइए तो मैं आपको एक सरप्राइज दूंगा ।

क्या था उनका वह 'सरप्राइज' ? मैंने उनकी मृत्यु के बाद अपनी डायरी में लिखा है—'मृत्यु के तीन महीने पूर्व मेरे आमन्त्रण पर अज्ञेय जी पटना आए । वहां हमने उन्हें 'बोटोनिकल गार्डन' स्थित वन विभाग के विश्राम गृह में ठहराया। वहां पेड़ के ऊपर एक कमरा बना है। वह पत्तियों और लत्तरों से ढंका रहता है, मानों हरे तिनकों का यह नीड़ पक्षियों ने मेहमानों के लिए बनाया हो ।

अज्ञेय जी को वह जगह बहुत पसन्द आई। वह बार-बार वृक्ष के ऊपर बने उस गृह को सतृष्ण नेत्रों से निहारते रहे ।

पटना से विदा होते समय उन्होंने मुझसे कहा—आपको दो-तीन महीनों के अन्दर मैं एक 'सरप्राइज' दूंगा ।

'क्या'—यह पूछना चाहकर भी मैं नहीं पूछ सका ।

उस 'सरप्राइज' को मैंने उनकी मृत्यु के बाद ही देखा। ठीक उसी कल्पना के अनुरूप। दो नीमों के ऊपर उनका वह वृक्ष-गृह, बांस की सीढ़ियों से ऊपर जाने का रास्ता—जिसका वे उदघाटन भी नहीं कर सके। जिस शाम बच्चों को कविता सुनाकर वह उसका उद्घाटन करने वाले थे, उसी सुबह वे सदा के लिए हमसे बिछुड़ गये थे।

डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी बताते हैं कि जब वृक्ष के ऊपर उसका निर्माण चल रहा था तो उसके नीचे खड़े होकर उन्होंने उनसे अनेक बातें की। सिंघवी साहब ने कहा इस पर आप मत चढ़ियेगा, तो अज्ञेय जी सहसा बोले—"बिना ऊपर गए मुक्ति कहां मिलती है।"

इलाजी रो-रोकर मुझे बताती हैं—"शंकर दयाल जी, जब यह वृक्ष-घर बनकर तैयार हुआ तो वह कहते थे—बस एक आदमी से इसे पास कराना है—शंकर दयाल जी से। वह पास कर देंगे, तो यह 'पास' हो जायेगा।

उनकी मृत्यु का समाचार पाकर जब मैं वहां दौड़ा हुआ पहुंचा तो उस मचाननुमा घर को देखकर भी नहीं देख सका। जब भी उसकी ओर आंखें उठाई आंसुओं ने उसे देखने न दिया।

अज्ञेय जी के सम्बन्ध में इतना लिखा गया और आगे भी कितना लिखा जायेगा, इसका कोई ओर-छोर नहीं है। व्यक्तिगत अनुभव से जानता हूं कि इस देश में उनके पाठकों की संख्या भी कम नहीं है, 'शेखर : एक जीवानी' हो या 'नदी के द्वीप' और 'अरे यायावर रहेगा याद' हो अथवा 'एक बूंद सहसा उछली' उनके संस्करण पर संस्करण प्रायः होते रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। अज्ञेय जी की प्रारम्भिक रचनायें जहां एक ओर रोमांटिसिज्म की अनुभूति हैं, वहीं भाषा प्रवाह और शैली-सद्भाव की अनमोल धरोहर भी। खास तौर पर अज्ञेय जी के उपन्यासों के पात्र दो स्थितियों में अपने संप्रेषण को बरकरार रखने की क्षमता रखते हैं। एक लेखक की आप्तलिप्तता और दूसरे पाठकीय साधारणीकरण।

शेखर, शशि, रेखा, भुवन,—सभी एक ओर लेखक की निजता का बोध कराते हैं तो दूसरी ओर पाठक अपने को भी उनके पास ही महसूस करता है। प्रेमचन्द के पात्र जहां यथार्थ और आदर्श के पर्याय बनते हैं वहीं अज्ञेय के पात्र लेखक और पाठक के सहोदर अथवा स्वयं की अनुभूति का सृजन करते हैं। इसे और स्पष्ट करना चाहूं तो यह कह सकता हूं कि पाठक उन पात्रों को अज्ञेय अथवा उनके आत्मीय के रूप में देखता है अथवा अपने को उन पात्रों और स्थितियों से जोड़ देता है।

बाद के दिनों में अज्ञेय का लेखन उतना सहज नहीं रह सका। विचारों तथा चिन्तन की बोझिलता से वे गदरा से गए थे।

एक दिन मैं दिल्ली से अहमदाबाद जा रहा था तो स्टेशन की राह उनसे मिलने कैवेन्टर्स लेन गया। विदा लेते समय पूछा—'आपकी कोई नई कृति नहीं आई है?'

'आई है।'—यह कहकर वे अन्दर गए और अपनी सद्य प्रकाशित कृति ले आए—'छाया का जंगल' और उस पर विधिवत लिखा—"श्री शंकर दयाल सिंह को प्रीतिपूर्वक—अज्ञेय'।

लगभग यह नियम सा था कि अज्ञेय जी की कोई नई कृति आती थी तो वह मुझे भेंट करते थे और 'पारिजात-प्रकाशन' की कोई भी पुस्तक आती थी तो उसकी पहली प्रति मैं उन्हें भेंट करता था।

दिल्ली—अहमदाबाद की यात्रा में 'छाया का जंगल' मैं पढ़ तो गया, लेकिन महसूस

यही होता रहा कि यह विचारों का भी जंगल है ।

अज्ञेय व्यक्ति और साहित्यकार दोनों पृथक थे । उनका साहित्यकार अज्ञेय था और व्यक्ति वात्स्यायन । हम लोग भी शायद ही कभी उन्हें अज्ञेय कह पाते हों । सदा वात्स्यायनजी ही कहते थे ।

हिन्दी के ऊपर उनका बहुत बड़ा ऋण है । लेखक, पत्रकार और आकाशवाणी के सलाहकार के रूप में अलग-अलग ढंग से उन्होंने भाषा को गढ़ा और जैसे कुशल मिस्त्री लकड़ी के अनगढ़—फुंदे को टेबुल-कुरसी-आलमारी की शक्ल प्रदान करता है, वैसे ही हिन्दी को पंडिताऊ-बोझिल या सस्ता-सुविस्ता होने से उन्होंने बचाया ।

'आकाशवाणी' की उद्घोणाओं से लेकर 'दिनमान' की टिप्पणियों तक हमें अज्ञेय का व्यक्तित्व सजग प्रहरी के समान दिखाई देता है । अंग्रेजो से लेकर संस्कृत तक और उर्दू से लेकर फ्रेंच तक उनकी पूरी पहुंच थी, लेकिन हिन्दी के ऊपर किसी प्रकार के आक्रमश को वह असह नीय मानते थे । हिन्दी हिन्दी है, उसे हिन्दी ही रहनी चाहिए—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर मैथिलीशरण गुप्त की हिन्दी, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की उर्दू या फिर राजा लक्ष्मण सिंह और डा० रघुवीर की संस्कृत नहीं ।

प्रकृति से तादात्म्य और घुमन्तू स्वभाव के कारण उनके लेखन में सहजता तथा गम्भीरता दोनों हैं । व्यक्तित्व के स्तर पर तथा लेखन के स्तर पर कहीं भी वह हल्के हो ही नहीं सकते थे । यही कारण था उनके प्रति विद्वेष और जलन का—जिसके शिकार वह जीवनकाल से लेकर मृत्यु बाद तक हुए । खुशवन्त सिंह से लेकर रवीन्द्रनाथ त्यागी तक ने जो व्यंग्य और लाछंन उन पर लगाये उसका मूल कारण अज्ञेय की ऊंचाई ही है ।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों-विद्वानों ने अज्ञेय जी की तुलना रवीन्द्रनाथ टैगोर से की है, साहित्यकार अज्ञेय की बहुविधता रवि बाबू के समकक्ष है । लेकिन जो सबसे बड़ी कमी है अज्ञेय जी में, वह यह कि रवि बाबू के लिए जहां सम्पूर्ण बंगला-जगत् सर्मपित रहा है, वहीं हिन्दी जगत् का खंडित प्रेम अज्ञेय जी को कचोटता रहा है ।

अज्ञेय के जीवन का सबसे वड़ा पक्ष उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व रहा है, न तो उन्हें आश्रित होना स्वीकार रहा न किसी बंधन में बन्धना । किसी पत्र का सम्पादन हो या फिर किसी विश्वविद्यालय की सेवा—अज्ञेय कहीं भी पालथी मारकर मठ-मन्दिर बनाने के फेर में नहीं रहे । जब तक जी में आया वे वहां रहे और जब मन कर गया उठकर चल दिये । किसी प्रकार का नाम-पाश-वन्धन उन्हें स्वीकार नहीं था ।

इधर एक प्रश्न उछाला जा रहा है—अज्ञेय की प्रासंगिकता का ।

सबसे पहले सम्भवत: डा० नामवर सिंह के मुंह से यह निकला । सम्भव है कि उसके बाद चेले-चटियों ने 'बहुत-कुछ' कह कर अपने गुरु का साथ दिया हो । नामवर जी ने किस प्रसंग में अज्ञेय जी की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया, यह भी मुझे ठीक से नहीं मालूम । लेकिन इस प्रसंग में नन्दकिशोर आचार्य का लेख 'इतवारी पत्रिका' में जरूर पढ़ने को मिला, जिसमें उन्होंने विस्तारपूर्वक इन बातों की चर्चा की है और जो लोग अज्ञेय की प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाते हैं उन्हें करारा जबाव दिया है ।

प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता क्या है, इस पर गम्भीर विचार विश्लेषण की जरूरत है । साहित्य में क्या कोई अप्रासंगिक भी होता है—यह बात मुझे समझ में नहीं आती ।

तब तो गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, कबीर, रहीम, भारतेन्दु, प्रेमचन्द सब को हम अप्रासंगिक करार दे सकते हैं। यह चौंकाने के लिए तथा नए मूल्यों की स्थापना के लिए भले कहे जाएं—लेकिन एक सजग पाठक के रूप में मेरा अपना निश्चित मत है कि न तो साहित्य कभी अप्रासंगिक होता है और न साहित्यकार।

अज्ञेय के लिए तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। उनके प्रथम काव्यसंग्रह 'भग्नदूत' का प्रकाशन 1933 में हुआ और उनके अद्यतन काव्य संकलन 'चुनी हुई कविताएं' का प्रकाशन उनकी मृत्यु के दो दिन पहले यानी 2 अप्रैल 1987 को। इन चौवन वर्षों के अन्तराल को सदा अज्ञेय पाटते और काटते रहे। 'चुनी हुई कविताएं' की भूमिका में उन्होंने स्वयं कहा है—

"मेरे लिखने में विधाओं में वैविध्य रहा है। अब भी काफी लिखता रहा हूं, पर मेरा कविता लिखना कम हो गया है। आगामी वर्षों में वह और भी कम हो जाएगा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होगी—स्वयं मुझे भी कोई निराशा नहीं होगी। फिर भी अभी जो लिखता हूं, अथवा भविष्य में जो थोड़ा बहुत लिखूंगा, उसमें शब्द की शक्ति और सम्वाद की सम्भावनाओं के बारे में कुछ नया भी सीख सकता हूं—ऐसी कोई उपलब्धि भी मुझे हो सकती है जिसके कारण ऊपर लिखा हुआ सब पुराना पड़ जाय और यह भूमिका व्यर्थ हो जाय। मैंने अपनी यह धारणा भी बार-बार प्रकट की है कि भाषा मनुष्य को स्वतन्त्र करती है क्योंकि वह उसे पूर्वानुमेयता से परे ले जाती है—उधर जिधर वह अपने विकास की चरम सम्भावनाओं को रूपायित कर सकेगा। भाषा की बात समग्र मानव-समूह की बात है; उस समूह की ईकाई की स्वतन्त्रता का मूल उसी प्रकार भाषा की इकाई शब्द में है जिसमें मूल्य का अभिनिवेश हो सकता है—आरम्भ में शब्द था और शब्द प्रभु था···मेरे साथ वैसा कुछ होगा तो मुझे अच्छा ही लगेगा, क्योंकि वह इस बात का संकेत होगा कि अपने यात्रा-पथ पर मैं कुछ और आगे बढ़ सका। पाठकों से यही अनुरोध कर सकता हूं कि वैसी स्थिति आने पर वे भी अपने को मेरी उपलब्धि का सहभागी मानें, जो मुझसे भी पीछे छूट गया उस की ओर देखते हुए किसी असमंजस में न पड़ें।"

अब ऐसे व्यक्ति या कवि या साहित्यकार के बारे में कोई क्या कह सकता है, जिसने स्वयं ही अपने बारे में बहुत कुछ कह दिया हो।

अज्ञेय का जीवन या साहित्य भी निरन्तर प्रगति का व्याख्यान या आख्यान है। 'चरैवेति···चरैवेति' को वे जीवन में हर पल उतारते चलते थे। यह उनकी तथा उनके साहित्यकार की सबसे बड़ी सफलता है।

अज्ञेय को नए सिरे से समझने की जरूरत है—ऐसे वाक्य मुझे बेमानी लगते हैं। अज्ञेय यदि 'ज्ञेय' नाम रखते तब भी वे अज्ञेय ही रहते और 'अज्ञेय ही रहते और 'अज्ञेय' होकर भी वे ज्ञेय हैं।

जिस मुखौटे, दुरूहता, अस्वाभाविकता, रिजर्वेशन और असहजता का आरोप उनके ऊपर लगता रहा है—वही उनकी निजता या विशेषता थी। अपनी उपस्थिति में अनुपस्थित होना तथा उपस्थित होकर भी अनुपस्थित रहना अज्ञेय जानते थे। विवादों तथा आक्रमणों से घिरे होने के बावजूद भी वे कभी लहूलुहान नहीं हुए। उनका व्यक्तित्व मात्र साहित्यकार या कवि का होता तो वे शायद उतने ऊंचे न हो पाते-जिसकी कल्पना हम प्राय: करते हैं।

किसी सभा, सम्मेलन, संगोष्ठी या किसी तरह के आयोजन में उनकी इच्छा कभी भी

अग्रसिरे पर बैठने की नहीं होती थी, लेकिन वे जहां कहीं भी होते थे केन्द्र-बिन्दु बन जाते थे।

किसी भी कोण से अज्ञेय लघु मानव नहीं थे। उनकी उदार वृत्ति दूसरों की मदद करने की पिपासा, मित्रों के लिए सब कुछ लुटा देने की आत्मीयता और बिना कहें, प्रदर्शित किए गुपचुप उपकृत करने की उनकी मर्यादित क्षमता औरों से परे थी।

भारत में शायद ही कोई साहित्यकार उस शालीनता के साथ रहा हो, जिस भांति अज्ञेय रहे। इसका उपयोग-उपभोग कृपण के समान उन्होंने कभी नहीं किया, बल्कि उदारता और शालीनता से लबालब उनका व्यक्तित्व मित्रों को अपने सुख में हिस्सेदार बनाने में सन्तुष्ट होता था।

वत्सल-निधि द्वारा आयोजित तीन कार्यक्रम—साहित्यिक-यात्रा, साहित्य-शिविर तथा व्याख्यानमाला—इन तीनों के संयोजन-आयोजन का काम मैंने जब तक देखा और इस बीच पाया कि अज्ञेय जी दूसरों की सुख-सुविधा का ख्याल स्वयं अपने से बहुत ज्यादा रखते थे। उनकी दृष्टि में ऐसे आयोजनों में बड़े-छोटे का भी कोई भेद नहीं रहता था। यह उनकी स्वाभाविक महानता थी।

भारत में अनेक साहित्यकारों ने भरपूर लिखा, कमाया, घर बनाया, परिवार बसाया समृद्धि हासिल की—लेकिन साहित्य की आय साहित्यिक आयोजनों एवं साहित्यकारों के लिए अर्पण करने वाले मेरी दृष्टि में अज्ञेय ही थे।

और इस सबके बावजूद अज्ञेय जीवन भर एक यायावर रहे।

[शमता सदन, बोरिंग रोड़, पटना—800001]

बात बोलेगी

वस्तुतः हिन्दी से आधुनिकता के अनेक स्तरीय परिचय के लिए अगर किसी एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है तो वह निर्विवाद रूप से अज्ञेय ही हैं। ठीक वैसे ही जैसे सामाजिक राजनैतिक सोच में जवाहरलाल नेहरू। दोनों ही ऐसे सेतु हैं जो भारत को बाहर और बाहर को भारत में पहुंचाने की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया सरंजाम देते हैं। कितने लेखक-कलाकार हैं जो सिर्फ कला की निष्ठा के बल पर सत्ता की राजनीति या राजनेताओं का सहारा लिये बिना भाषा और राष्ट्र की सीमाओं से ऊपर उठे हैं? लेखकीय अस्मिता और गौरव को अज्ञेय ने जो ऊंचाई दी, वह हम सबके लिए स्पृहणीय है।

—राजेन्द्र यादव (हंस संपादकीय)

तीन महिलाओं के साथ रहते हुए भी अज्ञेय जी कांडों में नहीं आए। वे अपने व्यक्तित्व की सहज गरिमा से सम्बन्धों को अर्थवान बनाते रहे। मैं अक्सर सोचता हूं कि सारा ज्ञान-विज्ञान और साहित्य अगर मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्धों को समझने और उन्हें समृद्ध करने के लिए नहीं है तो किस मतलब का है?

—प्रभाष जोशी (जनसत्ता)

यदि छायावादियों के 'असीम' और 'अनन्त' का अपने समय के साथ कोई गहरा संबंध था तो बेशक अज्ञेय के इस बहुप्रचारित मौन का कोई न कोई रिश्ता उन ठोस वास्तविकताओं से होना चाहिए, जिनके बीच वे रचनारत थे।

केदारनाथ सिंह (जनसत्ता)

अज्ञेय सुरुचि सम्पन्न कला-प्रेमी व्यक्ति थे। कला प्रेमी होना और जीवनयापन में सुरुचि का सावधानी पूर्वक निर्वाह करना कोई दोष या अपराध नहीं है।...फटा कुरता और मैला पाजामा पहनने में उन्हें साहित्य स्रष्टा की अनिवार्य प्रतीति नहीं होती थी। हां, फटे कुरते को कायदे से सिलकर और मैले पाजामे को साबुन से धोकर पहनना उन्हें अच्छा लगता था।... यदि किसी को उनकी इस स्वच्छंदता और कलात्मकता में अभिजात अहंकार की गंध आती है तो यह उसकी घ्राणेन्द्रिय का दोष है, अज्ञेय की परिष्कृत सुरुचिपूर्ण कलात्मकता का नहीं। इसी कलात्मकता, सुरुचि सम्पन्नता को यदि कलाकार के पुरस्कर्ता के रूप में देखा गया तो यह साहित्य को एक देन मानी जानी चाहिए।

विजयेन्द्र स्नातक (इन्डिया टुडे)

हिन्दी में अनेक शीर्षस्थ नाम ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी अप्रतिम रचनाओं से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की, किंतु एक पूरी पीढ़ी को गढ़ने का श्रेय सिर्फ अज्ञेय को ही दिया जा सकता है।

से० रा० यात्री (वर्तमान साहित्य)

हमारे देश के लोग चाहे ऊपर से कितने ही अशिक्षित, गरीब सौर अवश जान पड़ें, उनमें एक असाधारण गुण है, वे लाखों की संख्या में चाहे किसी लोकप्रिय नेता, फिलमस्टार अथवा महंत-महात्मा की ओर आकर्षित होते हों, अंततः अपनी श्रद्धा और प्रेम और विश्वास केवल उस व्यक्ति को दे पाते हैं जिसने उनके सुख-दुख के लिए अपनी भोग-लिप्सा, अपनी सुख-सुविधाएं, अपना सर्वस्व त्यागने का साहस किया हो।

—निर्मल वर्मा (धर्मयुग)

हमें यह धारणा छोड़ देनी चाहिए कि 'लोकयान' की अवधारणा मात्र अतीत की है अथवा उसका उद्गम पाशविकता में है। वस्तुतः यह परम्परावाद का प्रबल संस्थानक होने के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन का भी प्रस्थानक है। यही इसका द्वन्द्वात्मक चरित्र है। भारत में लोकयानों की विविधता तथा विपुलता का प्रचूर भंडार है। किन्तु अभी तक द्वन्द्व-तनाव-परिवर्तन की शक्ति—डायलैक्टिक्स में इनका अपेक्षित अध्ययन नहीं हो पाया है। इसके अध्ययन द्वारा हम आधुनिक भारतीय समाज के द्वन्द्व-तनाव-परिवर्तन के मूल समाजशास्त्रीय उद्गम प्राप्त करके सामाजिक क्रांति के सिंहद्वार खोल सकेंगे।

—रमेश कुंतल मेघ (सापेक्ष)

मैं जीवन-रस का मतलब समझती हूं। नृत्य मेरा जीवन है। मैं शुष्क नहीं हूं। जीवन जीना जानती हूं। पुरुष का अर्थ समझती हूं। रीझती भी हूं, रिझाती भी हूं। पर जीवन और सौन्दर्य की नश्वरता का आभास मुझे बहुत अच्छी तरह से है। मेरी देह मेरे गोविंद का नैवेद्य है। मैं उसकी निर्माल्य हूं।

—सोनल मानसिंह (धर्मयुग)

साक्षात्कार

अस्मिता को अर्जित करने का इतिहास

☐ राजी सेठ से रेखा की बातचीत

जीवन के अंधेरे कोनों को अपने शब्दों से जगमगाने या उनमें टिमटिमाहटें पैदा करने की लगभग अबूझ जद्दोजहद हर रचनाकार का रचना कर्म होता है। राजी सेठ के शब्द उनके अनुभवों के आलोक में से नि:सृत होकर सत्य की नोक से कभी हमें कोंचते हैं, सहलाते-थपथपाते हैं और फिर हमें उतना कुछ हासिल कर लेने या जान लेने देते हैं, जितने की इच्छा—जिज्ञासा हमारे अन्दर लगातार ज़िन्दा रहती है। अपेक्षतया कम लिखकर भी एक व्यापक पाठक-समुदाय को अपने लेखन की तरफ आकर्षित कर लेना राजी सेठ की रचनात्मकता की विशिष्टता है। किसी लेखक की एक रचना पढ़कर दूसरी के लिए अपने अन्दर मुखर होती जिज्ञासा की उंगली थामने को विवश हो जाना, उस रचनाकार की खूबी ही कही जा सकती है।

गर्मियों के दिन थे। शिमला की गर्मियां। सुना, राजी सेठ दिल्ली के शोर से दूर, घर-गृहस्थी की चिन्ताओं से हटकर शिमला के लेखक-गृह में महीना भर अपना नया उपन्यास लिखने के लिये आ रही हैं। एक बार पहले भी उनसे मिलना हुआ था। परन्तु वह भेंट अत्यन्त औपचारिक थी। 'टाउन हॉल' में दो-चार बातें। सौम्यता के उस स्रोत को टटोलने की कोशिश की जिसकी मन्द कान्ति से उनका पूरा व्यक्तित्व दीप्त रहता है। मैं चाहती थी कोई ऐसा सूत्र हाथ लगे कि मैं दूरी के पारदर्शी आवरण को लांघ अत्यन्त आत्मीय की तरह उनसे बातचीत कर सकूं। परन्तु वह पहली भेंट वहीं समाप्त हो गई। दूसरी बार वे फिर आईं। 'शिखर' के एक शिविर में उन्होंने कहानी पढ़ी। दो-दिवसीय शिविर में काफी सक्रियता से भाग लिया। इस वार फिर मैं चाहती रही कि राजी से कहीं एकान्त में बैठकर बहुत-सी बातें करूं—साहित्य सम्बन्धी और साहित्येतर भी। उनका साथ रहा, फिर भी वे अन्तरंग क्षण हाथ नहीं आए जब मैं बेबाकी से उनसे आमने-सामने कुछ कह सुन सकूं। ऐसे में जब यह जाना कि अब वे आएंगी लम्बे अरसे तक रहेंगी···समय भी होगा, सुविधा भी रहेगी तो मन एक पुलक से भर आया।

मैं एक नहीं, बहुत बार उनसे मिलने लेखक-गृह गई। अक्सर दोपहर में। दरवाजे पर दस्तक देते हुए एक अपराधबोध घेर लिया करता। उनके काम में बाधा डाल रही हूं। पर राजी आतीं। लगता मन्दिर के गर्भ-गृह से उठकर या समाधि से जागकर आई हैं। उनके गौरवर्ण—स्नेहसिक्त चेहरे पर सान्ध्य क्षितिज की तरह एक तरह का तेज रहता। कुछ क्षण

लग जाते उन्हें मेरे लिये प्रस्तुत होने में। फिर सहसा एक मेज़बान की तत्परता से कहतीं—"तुम्हारे लिये चाय बनाती हूं—फिर बातचीत होगी।"

साहित्य में 'जीवन दृष्टि', 'प्रेरणा', 'रचना प्रक्रिया' 'प्रतिबद्धता', 'लिखने की जरूरत' इन सभी मुद्दों पर बातें होती रहतीं। बात कई बार कहानी, कविता या आलोचना सम्बन्धी चर्चाओं से हटकर व्यक्तिगत प्रश्न, समस्याएं और यहां तक कि साड़ी के रंग में चयन और सुरुचि तक पहुंच जाती और अचानक लगता कि किसी दिन यह जरूर कहेंगी कि तुम मेरे लेखन में बाधा डालती हो। पर वह हमेशा यही कहतीं, "अरी! तुम ऐसा कैसे सोचती हो? कहानी या उपन्यास क्या शून्य में रचे जाते हैं? यह बहुवर्णी, बहुआयामी जीवन ही तो हमारा विषय है। हर छोटी से छोटी बात भी कहानी या उपन्यास का महत्वपूर्ण हिस्सा बन सकती है—मेरे लिये हर अनुभव अमूल्य है।"

पारिवारिक मान-मर्यादाओं को निभाते हुए राजी के 'व्यक्ति' ने अपनी अभिव्यक्ति की मांगों को नकारा नहीं। अध्ययन-मनन-चिन्तन—सब चलता रहा। अपने तीन कहानी संग्रहों—अंधे मोड़ से आगे, तीसरी हथेली, यात्रा मुक्त—और तत्सम (उपन्यास) में कहीं भी वे चिन्तन और अभिव्यक्ति के स्तर पर समझौता नहीं करतीं। एक विशेष स्तर की निर्मम अपेक्षा उन्हें अपने से ही रहती है। उनके चर्चित उपन्यास 'तत्सम' पर उन्हें 1985 का 'रचना पुरस्कार' और 1986 में भारतीय भाषा परिषद् द्वारा घोषित रामकुमार भुवालका पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

राजी से यह 'बातचीत' एक ही बैठक में नहीं हुई बल्कि समय-समय पर हुई चर्चा के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़कर इस रूप में रख रही हूं। इसके अलावा कुछ सवालों के जवाब लिखित भी मंगवाने पड़े। स्वयं राजी सेठ एक फार्मल किस्म की 'इन्टरव्यू' के ख्याल से बचती रही हैं। इसलिये उन्हें आगाह किये बिना ही बातचीत के विस्तृत कलेवर से मैंने स्मृति और समझ के आधार पर कुछ अंश यहां देने के लिये चुने हैं।

मैंने राजी सेठ को कई बार यह कहते सुना था कि "देखो मैंने तो बहुत समय खोया—इसी से तुम सब को यही कहती हूं, तुम लोग ऐसा न करना।" इस लिए मेरा पहला सवाल यह था कि आपने अपेक्षाकृत देर से लिखना आरम्भ किया इसके पीछे कारण रहे होंगे? **क्या आप यह समझती हैं कि इस देरी से आपको परिपक्वता के किसी विशेष स्तर तक पहुंचने में सहायता मिली है?**

राजी अपनी अनुभव यात्रा के पीछ छूटे किसी पड़ाव पर जाकर बोली—

अब पलटकर देखने पर देर से लिखने के पीछे आत्मसजगता और महत्वाकांक्षा का अभाव कह सकती हूं। लेखन के परिणाम पक्ष की ओर से मैं काफी दूरी तक उदासीन रही हूं और रह सकती हूं। जहां तक परिपक्वता का प्रश्न है साधारणतया अनुभवयुक्त व्यक्ति को परिपक्व होना ही चाहिए। वर्षों के अनुपात में उतनी उपलब्धि मानकर चला जा सकता है।

आपकी रचनाओं में भारतीय मानसिकता के गहरे संस्कार हैं। भारतीय की यह पहचान आज के सांस्कृतिक अराजकता और सम्भ्रम के दौर में भी बनाई रखी जा सके, इसके लिए आपके पास कुछ ठोस तर्क हैं क्या?

सांस्कृतिक संस्कारों को बनाए रखने या उनके बने रहने···उसे व्यक्त या विस्तृत करने के रास्ते तभी कारगार हो सकते हैं जब उन संस्कारों के प्रति हमारे मन में सम्मान हो।

अगर वह है तो रचना में निष्प्रयास आएंगे ही। नहीं है, तो उसके लिए अपने जीवन और विश्वासों को टटोलना पड़ेगा। इसका उत्तर रचना नहीं, जीवन दे सकता है, जो रचना का मूल स्रोत है। इसमें संदेह नहीं कि बहुत से कारणों से सांस्कृतिक संस्कारों की दरिद्रता देखने में आ रही है और उसका एक कारण सांस्कृतिक स्रोतों से दूरी है। शिक्षा प्रणाली भी उसका एक मुख्य कारण है। यह संस्कार वहीं से डाले जाने चाहिए।

क्या आप समझती हैं कि साहित्य में जिन्दा रहने की elemental struggle का चित्रण ही पर्याप्त है। 'शिव और सुन्दर' के प्रति उदासीनता देखकर आपके मन में क्या प्रतिक्रिया होती है?

निश्चय ही ऐसा नहीं समझती। मेरी समझ में तो मनुष्य के जीवन का सारा संघर्ष ही इस आस्तित्विक स्तर से ऊपर उठने का है, चाहे वह भौतिक स्तर पर हो या मानसिक स्तर पर, तब फिर रचना के स्तर पर (जिसमें सायास रचाव होता है) उसे शिव और सुन्दर से कैसे काट दिया जाएगा। शिव और सुन्दर में होना भी मनुष्य मात्र के मनस की एक विकसित मांग है। यदि रचना उस आयाम का स्पर्श नहीं कर पाती तो निहित विकास की प्रक्रिया अभी अधूरी है...दृष्टि विकसित नहीं हुई। इस उदासीनता का कारण दृष्टि हीनता है...देखना और छोड़ देना नहीं।

लिखते समय हर लेखक के मन में एक आदर्श स्तर तक पहुंचने की इच्छा रहती है? क्या अपनी रचनाओं में अपनी दृष्टि से, आप वहाँ तक पहुंच सकी हैं?

इस प्रश्न का उत्तर मेरे लिए दे पाना कठिन है। यह उत्तर तो पाठक दे पाएंगें। मैं उस रचनात्मक प्रयास और प्रक्रिया की बात कह सकती हूं जिसके तहत हर रचनाकार अपने निर्धारित किए स्तर तक पहुंचना चाहता है।

अपने लेखकीय जीवन में सबसे महत्वपूर्ण जो कुछ लिखना चाहती हैं उसकी क्या परिकल्पना आपके मन में है?

मेरे विचार से महत्व का भाव लेखन की समग्रता में से हाथ लगता है। यों हर रचना लिखते समय महत्वपूर्ण लगती है, न लगे तो भीतर से नि:सत्व हो जाती है। अपनी दृष्टि से महत्व की कुछ बातों की परिकल्पना हो भी सकती हो तो भी जरूरी नहीं कि लेखन उसी का अनुगामी होकर चले। दोनों बातों में व्यावहारिक दूरी है। महत्व की बात समय के तात्कालिक दबाव और भीतर के सहस्र कारणों से मर्यादित होती और वदलती रहती है। कभी-कभी कोई विचार गहरा जकड़ लेता है तो वही महत्व का लगता है। 'तत्सम' की परिकल्पना में यह सेल्फडिस्कवरी मुझे इसी रूप में जकड़ रही थी। लेखकीय जीवन में उतना महत्वपूर्ण कुछ होता है तो अपने को लिखवा लेता है।

मेरा अध्ययन-पठन इतना समृद्ध नहीं कि मैं प्रामाणिकता पूर्वक ऐसा कुछ कह सकूं। चुनाव के लिए उनमें से हो गुजरना पड़ेगा। कोई पुस्तक अपनी गुणवत्ता के लिए कोटि के प्रभाव को पाठक के मनस पर छोड़ कर जाती है उसी से पुस्तक की श्रेष्ठता की परख हो सकती है।

मैं भाषा और शिल्प को भी उतना ही महत्व देती हूं जितना कथ्य को, क्योंकि वह मेरे लिए कथ्य को संवेदना पूर्वक अर्जित करने का एक साधन ही नहीं रचनात्मक समृद्धि का एक आयाम भी है। यों सतर्कता से काम इसीलिए लिया जाता है कि दोनों छोर-कथ्य और भाषा-

संध जाएं, पर कभी सफलता मिलती है तो असफलता भी मिल सकती है। परफेक्शन का यत्न हो सकता है दावा नहीं।

मुमकिन है लगता हो, पर एक लेखक की दृष्टि से वह अपने ही विकसने और भाषा के साथ अपने रिश्ते को तराशने की एक अवश्यम्भावी यात्रा है जिसे पार करके ही 'वांछित' तक पहुंचा जा सकता है।

एक कसी हुई कहानी लिखना ज्यादा चुनौतीपूर्ण है। पर उसमें सबसे बड़ी सुगमता कम समय में सिमट आने की है। संतोष की प्राप्ति का एहसास उसमें जल्दी हाथ लगता है जबकि उपन्यास लम्बा होने के कारण सम्भावनाओं को अंत तक साथ बांधे रहता है। लेखकीय स्तर पर उपन्यास भीतर को अधिक खाली करता है जबकि कहानी अधिक पूरा करती है। अपनी सफलता की बात मेरे लिए कह पाना कठिन है।

पहले के साहित्य में हम कुछेक बड़े नाम गिना सकते हैं? परन्तु क्या कारण है कि अब कोई ऐसे बड़े प्रभावशाली नाम उभर कर नहीं आ रहे? क्या आपको लगता है कि आज केवल औसत दर्जे का ही साहित्य लिखा जा रहा है?

बड़े और टिकाऊ नामों का फैसला बड़ा समय सापेक्ष है। अभी से बड़े नामों की स्थिति या कमी का अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। वैसे भी साहित्य की वृत्ति इस समय 'उदात्त' के हक में नहीं है। खोद-खोद कर 'सत्य' से अधिक 'तथ्य' पर बल दिया जा रहा है, इसका प्रभाव हमारे जातीय संस्कारों पर पड़ेगा। यह ठीक है कि औसत दर्जे का साहित्य लिखा जा रहा है पर बड़े साहित्य की संभावना जहां कहीं भी पनप रही होगी इन दबावों से मर्यादित नहीं होगी। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेती है और कितने ही कालों की सम्भावनाओं को भीतर समेटे रहती है।

राजी कभी-कभी देखते-देखते अपनी उपस्थिति के बावजूद अनुपस्थित लगने लगती हैं। अपने इर्द-गिर्द से दूर—अकेली। ऐसे ही एक क्षण मैंने उन्हें घेर कर लिया कि समकालीन साहित्य में आपकी स्थिति क्या है? क्या आप अकेले ही किसी रास्ते की खोज में लगी हैं?

इसका उत्तर मुझे नहीं ज्ञात।

राजी के इस उत्तर से लगा मानो वे एक सीमा से आगे अपने एकान्त में कोई घुसपैठ नहीं चाहतीं।

आज के साहित्य को लेकर आपके संतोष और असंतोष के कौन-कौन से बिन्दु हैं?

आज का साहित्य अपने समय का नोटिस ले रहा है। यह संतोष की बात है, पर वह केवल अपने ही समय का नोटिस ले रहा है यह असन्तोष की बात है। इससे दृष्टिहीनता और भविष्यदर्शिता—यह दो बहुत ज़रूरी आयाम कट जाते हैं।

राजी लेखन के प्रति इतनी शिद्दत से महसूसती-सोचती हैं कि कभी-कभी उनका शांत चेहरा किसी अनकहे दर्द से तन जाता है। ऐसे ही तनाव से बाहर लाने के लिए मैंने उन्हें पूछा कि लिखना आपके लिए क्या है—कोई दायित्व—सामाजिक परिवर्तन का साधन—अपनी पहचान का माध्यम···एक (Existential) आवश्यकता या और फिर कुछ?

लिखना अब मेरे लिए जीने की पद्धति की तरह हो गया है। उसमें अलग-अलग बाहरी जैसा कुछ नहीं। लिखे शब्द का दायित्व होता है—इस कथन में ही सब कुछ आ जाता है—समाज, व्यक्ति स्व और पर की समस्याएं।

लिखने से पहले मन में किसी पूर्व-दृष्टि का होना आवश्यक है या यह दृष्टि रचना से ही निकलती है ?

दोनों तरह से हो सकता है । किसी रचना की पकड़ दृष्टि के ही रूप में होती है उसे रचनात्मक प्रसार द्वारा साकार करना होता है । पर ऐसा होने के बावजूद भी दृष्टि के नव्यतर रूप, उस प्रक्रिया में से उभर आते हैं । वास्तव में दृष्टि के 'पहले' और 'पीछे' का भेद कृत्रिम है । रचना की सारी दौड़ कथ्य को उस पहलू से पकड़ने की होती है जहां जीवन की प्रामाणिकता के साथ-साथ अर्थवत्ता का भी स्पर्श दिया जा सके । उसे ही दृष्टि का दूसरा नाम देंगे । यह रचना के दौरान अधिक स्वाभाविक रूप से हाथ लगती है ।

'तत्सम' राजी की महत्वपूर्ण रचना है—पहला चर्चित उपन्यास । लगता है—उन्हें इस रचना से विशेष लगाव भी है । इस पर उनसे जानना चाहा कि "तत्सम" में क्या आपको कुछ कमियां भी महसूस हुई हैं या उसे आप एक सफल रचना मानती हैं ? और अपने नए उपन्यास में आपने किस दिशा में आगे निकलने का यत्न किया ?

कमियां तो हर रचना में रह जाती हैं 'तत्सम' में भी होंगी । यह कमी का एहसास अपना-अपना है । मैंने उसे नकार से साकार की यात्रा या जिजीविषा के दमन और प्रकाशन का आधार बनाया था । आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से—सो वह उद्देश्य अर्जित हुआ-सा लगा । नये उपन्यास में दूसरी दिशा में जाना चाहने की इच्छा 'तत्सम' की सन्तोषप्रद स्थिति के कारण अधिक हो सकती है, क्योंकि उन संदर्भों से मन खाली हो गया है । बहरहाल भाषा से चूंकि मेरा रिश्ता बदला है सो वह अगले उपन्यास में उसी स्तर पर प्रगट भी होगा ।

आज 'महिला लेखन', 'युवा लेखन' जैसे हिस्सों में लेखन को बांटा जा रहा है । महिला लेखक होने के नाते क्या आपको कुछ विशेष या अलग लगता है किसी स्तर पर ?

महिला होने के कारण सबसे बड़ी कठिनाई घर से सम्बन्धित व्यस्तताएं हैं । वह मोटी नहीं बारीक हैं । वह घर के दायित्वों में अपने को परोसते रहने के बराबर हैं । मेरा घर ही मेरी लेखनशाला है और घर दफ्तर नहीं होता जहां निवृत्त कर देने वाला एकान्त और चारदीवारी उपलब्ध हो । छोटे-छोटे दबाव तनाव पैदा होते रहते हैं । वैसे भी घर पर रहने वाली स्त्री का कार्यकारी रूप अभी हमारे में स्वीकृत नहीं है । यह गाथा लम्बी है इसीलिए किसी बड़ी रचना जैसे 'तत्सम' को पूरा करने के लिए घर से बाहर जाना पड़ता है ।···कोई और कठिनाई मुझे पेश नहीं आई, हालांकि सहकर्मियों के दूसरी तरह के अनुभव भी हैं ।

क्या आपकी दृष्टि में भी महिलाएं केवल बहुत सीमित फलक पर ही अपना चिन्तन केन्द्रित कर सकी हैं ? महिला लेखकों की पुरुषों की तुलना में कौन-सी उपलब्धियां हैं—कौन-सी कमजोरियां ?

इस तरह के प्रश्न मुझे कृत्रिम लगते हैं । रचना में अनुभव रेंज की एक अपरिहार्य स्थिति होती है वही प्रामाणिक भी होती है । सारा लेखन उसी बिन्दु से उठाया जाता है, पुरुष या स्त्री के लिए समान रूप से । पुरुष भी अपने अनुभव से सटकर ही रचना करता है, हटकर नहीं । स्त्री का लेखन भी एहसास के बीच में से उठेगा जो उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति का आधार है । लेखिकाएं लेखन द्वारा अपनी अस्मिता को अर्जित करने का प्रामाणिक इतिहास लिख रही हैं—यह बात ज्यादा सच है । उसकी विकास की गति, अपनी धुरी से सीधे उठना और विकसना है, पुरुष के अखाड़े में कूद जाना नहीं । उस अनुभव का प्रामाणिकता पूर्वक

आकलन उसकी उपलब्धि है कमी नहीं।

लिखते समय क्या आप किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित रहती हैं या चिन्तन का अर्थ केवल विषयवस्तु की गहराई में उतरते जाना ही है?

मेरा लेखन चिंतन प्रधान है, यह प्रतीति या निर्णय बाहर से आता है। मेरे लिए लेखन और चिंतन दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। लेखन की प्रक्रिया में ही चिंतन की प्रक्रिया निहित है। कहना चाहिए कि मेरे लिए लिखना भी खोजने और सोचने के बराबर है। किसी भी विचारधारा का इसमें दखल नहीं।

साहित्य में प्रतिबद्धता की व्याख्या आप कैसे करेंगी। किसी वाद विशेष से प्रतिबद्ध न होकर भी किसी लक्ष्य से प्रतिबद्धता को क्या आप अनिवार्य नहीं समझती?

साहित्य में इस समय प्रतिबद्धता के अर्थ किसी साहित्येत्तर विचारधारा से आबद्ध होने के लगाए जाते हैं, जिसे व्यक्त करने का साहित्य माध्यम बनता है। मैं लेखन कर्म के लिए ऐसी प्रतिबद्धता की कायल नहीं। अपने कर्म के प्रति निष्ठा से रचनाकार का प्रतिबद्ध होना भी लघुत्तर कर्म नहीं।

कहानी

पिल्ले

□ महाराज कृष्ण काव

उस दिन किसी काम से दिल्ली जाना पड़ गया। स्टेशन से सीधा अपने बड़े भाई बृजेन्द्र के घर पहुंचा। सोचा, आजकल पापा, अम्मी उनके यहां ठहरे हैं, दर्शन हो जायेंगे। फिर बृजेन्द्र भी बुरा मानता है। पिछली बार होटल में ठहरा तो एक लम्बी चिट्ठी मिली—मैं तो समझता था कि मेरा घर तुम्हारा ही घर है, तुमने होटल में ठहरने की जुर्रत कैसे की, आदि। मैंने माफी-नामा लिखकर भेजा तब जान बची।

बड़ी आव-भगत हुई—अम्मी ने माथा चूमा, पापा गले मिले, बृजेन्द्र ने गर्मजोशी से हाथ मिलाया, बाला ने मुस्कराकर स्वागत किया। चेतन और पवन दौड़कर आए और मेरी कमीज की एक-एक बांह पकड़कर जोर-जोर से गाने लगे, "चाचू, चाचू आए, हमारे लिए क्या लाए ?"

मैंने कहा, "अरे तुम लोग तो टेलीविजन का विज्ञापन लग रहे हो।"

अम्मी ने डांटकर कहा, "ए पवन, ओ चेतन, क्यों इसे आते ही तंग कर रहे हो ? छोड़ो इसकी कमीज। और यह चीजें मांगते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ? बदतमीज !"

बृजेन्द्र कुछ नर्मी से बोला, "बेटे पवन, ऐसा नहीं करते। अरे चेतन, जाओ, तुम लोग दूसरे कमरे में जाओ।"

मुझे लगा बाला की भौहें कुछ-कुछ तन गई हैं। वह बोली कुछ नहीं, मगर दांत से निचला होंठ दबाकर रह गई। वातावरण में कुछ खिंचाव आ गया।

मैंने कहा, "ठहरो, ठहरो। मैं तुम्हारे लिए कुछ लाया हूं।" और फुर्ती से मैंने अपनी अटैची खोली, उसमें से दो टीशर्ट निकाले।

चेतन पवन से एक साल बड़ा है मगर पवन चेतन से एक इंच लम्बा है। दोनों ने टीशर्टस की तरफ देखा। इससे पहले कि चेतन कुछ कहता, पवन बोला, "मुझे लाल वाली चाहिए।"

चेतन ने कहा, "मुझे भी लाल वाली ही चाहिए।"

पवन—"पहले मैंने कहा।"

चेतन—"तुम पहले कहने वाले कौन होते हो ? मैं तुमसे बड़ा हूं।"

पवन—"बड़े होंगे, मगर लाल वाली मैंने मांगी।"

चेतन—"सुना नहीं, दादी ने क्या कहा ? अच्छे बच्चे चीज़ें नहीं मांगते ।"

पवन—"यह तुम इसलिए कह रहे हो क्योंकि तुमको फायदा है। वरना दादी की और कौन-सी बात मानते हो ?"

चेतन—"टी-शर्ट्स चाचू ने लाई हैं। उनको फैसला करना है। क्यों चाचू ?"

पवन—"मैंने लाल वाली मांगी है । मुझे वही मिलेगी। क्यों चाचू ?"

इस तरह अपने को न्यायाधीश बनता देख मैं सकपका गया। इतना पेचीदा मसला तो उच्चतम न्यायालय को जाना चाहिए । मैं क्या जवाब देता ?

बृजेन्द्र ने कहा—"तुम दोनों टी-शर्ट्स दोनों को दे दो। उस तरह से चार टीशर्ट्स हो जायेंगी ।"

उसने अगर यह सोचा था कि उसका मज़ाक कामयाब होगा तो यह उसकी गलतफ़हमी थी। मामला गम्भीर था। कोई नहीं हंसा।

चेतन ने कहा, "नहीं, मुझे तो अलग टी-शर्ट चाहिए—अपनी ।"

पवन क्यों पीछे रहता ? बोला, "मुझे भी ।"

मैंने टी-शर्ट्स बाला के हाथ में पकड़ा दिए। कहा, "भाभी, नापकर देख लीजिए। हो सकता है, छोटा-बड़ा साइज़ हो।" बाला उन्हें लेकर अन्दर के कमरे में चली गई। चेतन और पवन भी उसके पीछे-पीछे हो लिए ।

कमरे में खामोशी-सी उभर आई । अम्मी बोली, "बृजेन्द्र, यह कोई, अच्छी बात नहीं। बच्चों को तमीज़ सिखानी चाहिए ।"

बृजेन्द्र कुछ परेशान हो उठा। बोला, "अम्मी, कोशिश तो करता हूं ।"

मैंने बात टालने के लिए कहा, "मेरा ख्याल है मुझे नहाना चाहिए ।"

नहाकर जब मैं निकला तो दूसरा महाभारत छिड़ा हुआ था । दोनों बच्चे मेरे बाथरूम में नहाना चाहते थे। दोनों नंगे थे, कमर में तौलिया लपेटे ।

चेतन ने कहा, "तुम नहीं समझोगे । यह सब काम उम्र के हिसाब से होते हैं।"

पवन बोला, "हर एक बात में उम्र क्यों लाते हो। कपड़े पहले मैंने उतारे थे।"

चेतन—"उतारे होंगे । मगर इस बाथरूप के लिए तो नहीं उतारे थे ।"

पवन—"मगर यही सोचकर उतारे थे कि इस बाथरूम में नहाऊंगा ।"

चेतन—"तुम क्या सोच रहे थे, यह मुझे क्या मालूम ? पहले मैं यहां आकर खड़ा हुआ था ।"

पवन—"तुम्हें मालूम है मुझे वह दूसरा बाथरूम पसन्द नहीं। उसमें बू आती है।"

चेतन—"मुझे भी आती है।"

पवन ने ज़बरदस्ती करने की कोशिश की, चेतन ने उसे रोका। इसी छीना-झपटी में पवन का तौलिया खुल गया। चेतन उसे चिढ़ाने लगा, "ऐ···ऐ···ऐ···नंगा धड़ंगा···नंगा धड़ंगा··· नंगा धड़ंगा।" पवन ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। दोनों का वाल्यूम ऊंचा था। काफी शोर मचने लगा।

इतने में बगल के कमरे से पापा निकले। उनका चेहरा तमतमाया हुआ था, मुंह से आवाज नहीं निकल रही थी। पापा की यह आदत हम सब बचपन से जानते हैं। उनको गुस्सा बहुत कम आता है, वह किसी भी मामले में दख़ल नहीं देते। लेकिन कभी जब गुस्सा आ जाए

तो बड़े ज़ोर का आता है। देह कांपने लगती है।

उन्होंने आव देखा न ताव दो चार तमाचे चेतन के चेहरे पर जड़ दिए। साथ ही बुद-बुदाए, "बदमाश, तुम लोग दो मिनट चुप नहीं रह सकते। जब देखो लड़ते रहते हो···?"

और उसी तेज़ी से अपने कमरे में वापिस चले गए। अब क्या था चेतन ने भी डां-डां करते हुए रोना शुरू किया। मुझे समझ नहीं आया मैं क्या करूं। बच्चों को समझाने की कोशिश की, मगर दोनों बांह छुड़ा कर रोते रहे। मेरी तरफ मुंह उठाकर भी नहीं देखा।

मुझे काम के लिए देर हो रही थी। इसीलिए अपने कमरे में जाकर कपड़े पहनने लगा। जब मैं खाने की मेज़ पर पहुंचा तो देखा बृजेन्द्र मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। पता चला अम्मी और पापा पूजाकक्ष में हैं और बाद में नाश्ता करेंगे। थोड़ी ही देर में बाला चीजें लेकर आ गई।

टोस्ट खाते-खाते मैंने पूछा, "बच्चों ने नहा लिया?"

उसने मुंह बना लिया। बोली, "नहीं। बिना नहाए स्कूल चले गए। नाश्ता भी नहीं किया।"

मुझे हैरानी हुई। पूछा, "नाश्ता क्यों नहीं किया?"

बाला—"सेंसिटिव बच्चे हैं। हमने तो उन्हें कभी फूल छुआकर नहीं मारा।"

बृजेन्द्र—"क्या हो गया अगर पापा ने थोड़ा मार दिया। हम लोगों ने भी बचपन में खूब मार खाई है।"

बाला—"आपका ज़माना दूसरा था।"

बृजेन्द्र—"बच्चों को बिल्कुल खुली छूट भी नहीं देनी चाहिए। खराब हो जाते हैं।"

बाला—"मैं तो कोई खराब नहीं हुई। हमारे घर में कभी किसी को नहीं मारा जाता था।"

बृजेन्द्र—"तुम तो लड़की हो ना, इसलिए बच गई। तुम्हारे भाई ने ड्रग्स लेने शुरू नहीं किए थे।"

बाला—"तुम भी बस—जब देखो मेरे भाई की कहानी लेकर बैठ जाते हो। तुम्हें मालूम है कि वह कालेज में बुरे संग के कारण हुआ। उसका हमारे घर के तौर-तरीकों से कोई वास्ता न था।"

बृजेन्द्र—"था। तुम्हारे घर में बच्चों को खर्चने की पूरी आजादी थी। जब हाथ में खुला पैसा हो तो कच्ची उम्र में बहकना आसान होता है।"

बाला उठकर चली गई। वह बुरा मान गई थी। बृजेन्द्र को अच्छा नहीं लगा। सोचा होगा इकलौता भाई इतने दिनों बाद घर आया है, उसके सामने झगड़ा नहीं करना चाहिए था। मैंने कुछ नहीं कहा, जैसे मैंने सुना ही न हो।

बोला, "शाम को मैं छः बजे तक आ जाऊंगा। आप कब तक आ जाते हो?"

बृजेन्द्र ने कहा, "मेरा कोई ठीक नहीं। ज़्यादातर आठ-नौ बज जाते हैं, मगर मैं जल्दी आने की कोशिश करूंगा।"

वह मेरी ओर इस अन्दाज से देख रहा था कि ऐसा हमारे यहां रोज नहीं होता। मैं उसको बताना चाहता था कि मुझे मालूम है। मगर शर्म में दोनों बातें अनकही रह गईं। जब मैं मेज़ से उठा वह कुछ सोचता हुआ-सा चाय की चुस्कियां ले रहा था।

शाम को मैं लौटा तो क्या देखता हूं कि दोनों बच्चे पार्क में क्रिकेट खेल रहे हैं। मैं उत्सुकतावश ठिठक गया। उन्होंने मुझे नहीं देखा। वे खेल में मस्त थे। दो-तीन और बच्चे भी थे। खेल चल रहा था।

पवन ने बाल फेंकी, चेतन ने बैट बड़े जोर से घुमाया पर बाल को छू न सका। पीछे विकेटों के बदले एक बड़ा बेढंगा पत्थर रखा हुआ था। बाल उसके ऊपर से निकल गई।

पवन चिल्लाया, "आउट"। पास खड़ा एक और बच्चा मानों नींद से जागा। वह छ: सात साल का ही था। इससे पहले वह एक कौए को देख रहा था। उसकी बैटिंग की बारी थी। जब उसने पवन का "आउट" सुना तो वह भी चिल्लाया, "आउट।"

चेतन ने मुड़कर विकेट की तरफ देखा, मानो पत्थर से गवाही मांग रहा हो। बोला, "नॉट आउट।"

पवन दौड़कर उसके पास गया और उसके हाथ से बैट छीनने लगा, साथ ही बोलता रहा, "नहीं, नहीं, तुम आउट हो। मुकुल ने भी देखा है। बाल विकेट में लगी थी।"

मुकुल की अंगुली नाक के अन्दर कुछ खोज रही थी। पवन ने उसकी तरफ आग्नेय नेत्रों से देखा। वह घबरा गया। हकलाकर बोला, "हां, हां, मैंने भी देखा था। बाल विकेट में लगी थी। इधर!" और उसने जाकर पत्थर को एक जगह छू भी दिया।

"नहीं!" चेतन ललकार उठा, "तुम झूठ बोल रहे हो। बाल बहुत ऊंची थी। वह विकेट में कैसे लग सकती थी, वह बहुत ऊपर से निकल गई।"

पवन ने भी अपनी आवाज ऊंची की, "झूठ तुम बोल रहे हो। आउट होकर भी बैटिंग नहीं छोड़ रहे।"

चेतन ने आस-पास खड़े और बच्चों की ओर देखा। वे तटस्थ भाव से झगड़े को देख रहे थे। उसे नहीं लगा कि उनसे पक्षपातरहित किसी रवैए की अपेक्षा की जा सकती है। अचानक उसने मुझे देख लिया। उसकी आंखें चमक उठीं। वह मेरी ओर दौड़कर आया।

बोला, "चाचू···चाचू···आप तो देख रहे थे ना। क्या बाल विकेट में लगी?"

सारे बच्चे मेरे पास आ गए। वे सब मेरे चेहरे को गम्भीरता से पढ़ने की कोशिश कर रहे थे। मैं क्या कहूंगा, सच या झूठ?

मैंने पवन की आंखों में झांककर कहा, "मेरे ख़्याल में बॉल विकेट के बहुत ऊपर से निकल गई थी।"

चेतन ने बड़े ज़ोर की किलकारी भरी और दो अंगुलियों को मुंह में रखकर कुछ अजीब सी आवाज़ निकालने लगा, जैसे बकरी मिमिया रही हो। बोला, "देखा? तुम झूठ बोल रहे थे। मैं चालीस हूं, नॉट आउट!" और वह शान से कंधे चौड़े करता हुआ विकेट की तरफ बढ़ा।

पवन को बात कड़वी लगी मगर मेरे फैसले के आगे वह नि:सहाय था। होठों के अंदर ही अंदर कुछ बुदबुदाता हुआ वह भी अगली बॉल फेंकने की तैयारी करने लगा।

दोनों योद्धाओं को पुन: युद्ध क्षेत्र में जाते देख मैंने वहां से हटना ही ठीक समझा और घर की तरफ बढ़ गया।

घर में सिर्फ पापा-अम्मी ही थे। बाला बाज़ार गई हुई थी। भैया अभी ऑफिस से नहीं लौटे थे।

पापा के सामने शीट बिछी हुई थी। उस पर चाय का सामान, बिस्कुट, दालमोठ वग़ैरा रखे हुए थे। मुझे देखते ही अम्मी बोली, "तुम भी चाय पिओगे ? मैं तुम्हारे लिए प्याला लाती हूं।" यह सवाल नहीं था, उनका निर्णय था।

मैंने कहा, "नहीं, मैं खुद लाता हूं," और किचन से एक मग ले आया।

अभी प्याले को होंठ छुआए ही थे कि अम्मी बोल उठीं, "देखा, बच्चों का क्या हाल बनाया है ? यह इनकी परवरिश है। जिस दिन हम आए थे, उस दिन देखना चाहिए था। सारे कपड़े कीचड़ में सने हुए थे। बहू तो इनको कुछ कहती ही नहीं। इसी लाड़-प्यार से ख़राब हो चले हैं। उस पर तुर्रा यह कि कोई और भी कुछ न कहे। भला बताओ, हम लोग क्या उनके दुश्मन हैं। घर में बैठे हैं तो क्या आंखों के सामने अनर्थ होते देख सकते हैं ? मैं तो इस तरह उन्हें ख़राब होते देख चुप नहीं बैठ सकती। हमने भी बच्चे पाले हैं, मगर इस तरह नहीं। सारा दिन मुंह फुलाए रही। क्या हुआ था, इन्होंने थोड़ा मार दिया था। और क्या तमाशा देखते ? यह तो किसी को कुछ कहते ही नहीं हैं। पता नहीं आज कैसे इतना गुस्सा आ गया ? मगर क्या बाला को इस बात का बुरा मानना चाहिए था ? हम तो बच्चों के भले की कह रहे हैं। हमें क्या ? अगर वह चाहती है हम कुछ न कहें, तो हम कुछ नहीं कहेंगे।"

अम्मी अपने दिल की भड़ास निकाल रही थीं। ज़रा देर को चुप हुई तो मैंने डरते-डरते कहा, "अम्मी, तुमने तो हम लोगों को पाल लिया। अब भाई साहब और भाभी को अपने बच्चे पालने दो।"

"पालें !" अम्मी भड़क उठीं, "मैं कब मना करती हूं। पालें ! पालते ही तो नहीं हैं। इस तरह सुबह से शाम तक बिना रस्सी की गाय की तरह दोनों घूमते फिरते हैं, यह अच्छी बात है ? उस दिन यह पड़ोसन है ना, मिसेज़ सुब्रामन्यम, कहती थी—माताजी, यह बच्चे हैं या क्या हैं ? दीवारों पर चढ़ते हैं, छतों पर चढ़ते हैं। उस दिन पेड़ पर चढ़े थे। अरे राजेन्द्र बेटा, सारे मुहल्ले में चर्चे हैं इनके। यह कोई अच्छी बात है ? मैं तो चाहती हूं, सब इनकी तारीफ़ करें। यह गुंडागर्दी करने से नहीं चलेगा।"

अब पापा की बारी थी। बोले, "मुझे मारना नहीं चाहिए था। यह तो मैं भी समझता हूं। मगर क्या करूं, मुझसे रहा नहीं गया। यह लोग बहुत शोर मचाते हैं, अब बुढ़ापे में शोर नहीं सहा जाता।"

मम्मी तुनककर बोलीं, "क्यों नहीं मारना चाहिए था ? तुमसे बड़ा है कोई घर में ? तुम बड़े हो, किसी को भी मार सकते हो। यह बाला कौन है कुछ कहने वाली। खुद तो बच्चों को ख़राब कर रखा है। अगर कोई दूसरा उन्हें तमीज़ सिखाना चाहे तो मुंह फुलाकर बैठ जाती है। इसे अच्छा नहीं लगता। ना अच्छा लगे, हमारी बला से। मैं तो कहती हूं तुमने ठीक किया जो मारा। यह लातों के भूत हैं, बातों से नहीं मानते।"

मैंने कहा, "लेकिन अम्मी, यह बच्चे बाला के हैं। उसे हक़ है उनको किसी भी तरह बड़ा करने का। अगर वह ग़लती कर रही है तो उसे ग़लती करने का भी हक़ है।"

"हक़ है ! उसको हक़ है !" अम्मी ने तल्ख़ी से कहा, "ज़िम्मेदारी कुछ नहीं है। बृजेंद्र बेचारा थक-हारकर दफ़्तर से लौटता है तो बच्चों को लेकर पढ़ाने बैठ जाता है। और यह जो पढ़-लिखकर सारा दिन घर में चारपाइयां तोड़ती रहती है, यह नहीं उनसे कभी पढ़ने को कह सकती ? बस खिलाने पर ज़ोर है। मीट खिलाती है तो आधा-आधा किलो एक खा जाता है।

इससे पूछो कल यह मजलिस में बैठेंगे तो क्या इनको पेटू की उपाधि ही मिलनी चाहिए ?"

मेरे से कोई जवाब न बन पड़ा। आगे भी शायद बात बढ़ती मगर इसी वक़्त दरवाज़े पर घंटी हुई। पहले बाला आई, फिर बच्चे और कुछ देर बाद बृजेंद्र। फिर इधर-उधर की बातचीत चल पड़ी।

रात को मैं किताब पढ़ रहा था कि दोनों बच्चे मेरे कमरे में आ गए—"चाचू, हमें कोई कहानी सुनाओ।"

यह एक पुरानी आदत है। मेरे बारे में सबको मालूम है कि मैं अविवाहित हूं, मगर बच्चों से मुझे बेहद प्यार है। मैं परले दर्जे का पढ़ाकू हूं। उपन्यास कहानियां चाटने में मेरा सानी नहीं। इसलिए अपने परिवार में जहां कहीं भी जाता हूं बच्चे हर जगह कहानी की फर-माइश करते हैं।

मैंने कहा, "बिस्तर में आ जाओ। लेकिन एक तरफ नहीं। चेतन इस तरफ और पवन उस तरफ। इकट्ठे बैठोगे तो तुम लड़ोगे।"

दोनों बच्चे बैठ गए तो मैंने कहा, "अच्छा, कहानी सुनाने से पहले मैं तुमसे पूछना चाहता हूं, तुम लोग आपस में इतना झगड़ते क्यों हो ?"

चेतन ने भोली सूरत बनाकर कहा, "कहां झगड़ते हैं ?" पवन भी मेरी तरफ हैरानी से देखने लगा मानो उसको 'झगड़ा' शब्द का अर्थ ही मालूम न हो।

"नहीं, तुम झगड़ते हो। तुम लोग वैसे ही लड़ते हो जैसे जैकी और निकी।" मैंने फिर कहा।

पवन—"ये कौन हैं ?"

"ओह, तुम नहीं जानते ? मैंने तुम्हारे डैडी को चिट्ठी में लिखा था, बताया नहीं ?"

दोनों बच्चों ने ना में सिर हिला दिया।

"यह दो पिल्ले हैं जो मैंने तीन महीने पहले लिए हैं। पोमरेनियन हैं, एक ही मां से। अभी तो छोटे से हैं। वह जब खेलते हैं तो एक-दूसरे को काटते से लगते हैं। दांत लगाते हैं मगर काटते नहीं। खूब भौंकते हैं, उछलते हैं, कूदते हैं, मेरे लॉन पर एक-दूसरे का पीछा करते रहते हैं।"

चेतन—"बड़ा कौन है ?"

"पिल्लों में बड़ा-छोटा नहीं होता। एक ही बार इनकी मां आठ-नौ पिल्लों को जन्म देती है।"

पवन—"देखा ? कोई छोटा-बड़ा नहीं है।"

चेतन—"लेकिन आकार में कौन-सा बड़ा है ?"

पवन—"उससे क्या ? तुमसे तो मैं लंबा हूं।"

"ओफ्फोह ! फिर पिल्लापन करने लगे। सुनो, मैं तुम्हें एक बात बताता हूं। अगर दूसरे आदमी को पसंद करना हो तो उसकी अच्छाइयां गिनने की कोशिश करो। यह मनो-विज्ञान की किताब में मैंने पढ़ा है। अच्छा बताओ, पवन, चेतन में क्या अच्छाइयां हैं ?"

पवन चेतन की तरफ नई दृष्टि से देखने लगा। उसने विस्मय से कहा, 'अच्छाइयां ?'

और चेतन को ऐसे घूरने लगा जैसे वहां कोई भी अच्छाई ढूंढनी उसके लिए मुश्किल हो। चेतन उत्सुकता से उसकी बात की प्रतीक्षा करने लगा।

"अच्छाइयां ?" पवन ने पूछा, जैसे कह रहा हो कि यह क्या पूछ लिया, अच्छाइयां और चेतन में ?

"हां, हां", मैंने उसे थपथपाते हुए कहा, "जैसे चेतन कितना सुन्दर है। है ना ?"

पवन ने चेतन को ग़ौर से देखा, फिर उसकी हंसी निकल गई। "सुन्दर है ?" फिर पिच्च से उसकी फुलझड़ी चल पड़ी। चेतन बहुत गंभीर होकर उसकी प्रतिक्रिया देख रहा था। पवन भी गंभीर हो गया और बोला, "हां, सुन्दर तो है।"

मैं इतनी आसानी से उसे छोड़ने वाला न था। बोला, "ठीक है, अब ऐसे ही सोचकर दस गुण बताओ।"

"दस गुण !" पवन हैरत से बोला और हंस पड़ा। चेतन ने उसे एक मुक्का मारा। "नहीं, नहीं, बताता हूं, बताता हूं," पवन चिल्लाया, "इसकी नाक सुन्दर है, कान सुन्दर हैं, हाथ सुन्दर हैं, आंख सुन्दर है···कितने हो गए ?" और वह शरारती अंदाज़ से चेतन को चिढ़ाने लगा।

मैंने अपना सबर नहीं छोड़ा और बोला, "ऐसा है पवन ! आंख-कान की नहीं पूछ रहा हूं। मैं तुम्हारी मदद करूं ? मिसाल के तौर पर तुम्हारा यह बड़ा भाई स्कूल की फुटबॉल टीम का कप्तान है। है कि नहीं ? तो क्या तुम्हें इस बात पर गर्व नहीं है ?"

पवन ने चेतन की तरफ देखा और बोला, "क्या कहूं ? गर्व है ?" चेतन ने मुक्का दिखाया, "नहीं, है-है, गर्व है। मुझे चेतन पर गर्व है।"

"अच्छा चेतन, अब तुम बताओ", मैंने चेतन की ओर मुड़कर कहा, "पवन में क्या गुण है ?"

चेतन उम्र में बड़ा है फिर उसे सोचने का वक़्त भी मिल गया था। बोला, "ल्यूडो में चीट करता है, क्रिकेट में चीट करता है, स्क्रैब्ल में चीट करता है, मम्मी के पास जाकर चुग़ली खाता है, फ्रिज से चीजें चोरी करता है, रात को दरवाज़े के सूराख में से झांककर देखता है कि मम्मी-डैडी क्या करते हैं···"

यह सब वह एक सांस में ही कह गया। मैं उसको रोक नहीं पाया। पवन उसकी ओर घूंसा तानकर लपका। चेतन बिस्तरे से निकलकर भाग गया। उसके पीछे पवन काफी कुछ कहता हुआ भागा। पलक झपकते ही कमरा ख़ाली हो गया। कहानी अनकही रह गई।

फिर बृजेंद्र की आवाज़ आई, "चलिए, अब आप दोनों सो जाइए। मैं कहता हूं आप सो जाइए···"

अगले दिन इतवार था। मैंने गाज़ियाबाद जाना था। वहां बाला की बहन भी रहती है। चलने के आध घंटे पहले मैंने खाने की मेज पर घोषणा की—

"मेरी टैक्सी में एक बच्चे के बैठने की जगह है। जो जल्दी से नहाकर, कपड़े पहनकर पहले तैयार होगा उसे मैं अपने साथ ले जाऊंगा। वह सारा दिन मौसी के यहां खेल सकता है।"

फिर क्या था ? दोनों बच्चे भागे। जब तैयार होकर आए तो लगभग साथ-साथ ही

आए। मैंने हंसकर कहा, "यह तो फोटो-फिनिश हुआ। अब तैयारी देखकर फैसला होगा।"

पूरा निरीक्षण हुआ। पवन के दाएं कान के पीछे थोड़ा साबुन लगा था, वह मैंने न देखने का बहाना किया। चेतन के एक जूते का फीता कसा हुआ नहीं था और कमीज़ का एक कोना भी निकर से बाहर निकला हुआ था। मैंने पवन को विजयी घोषित किया।

जब पवन मेरे साथ निकला तो चेतन की तरफ देखकर उसने अपनी कमीज़ का कॉलर हल्का-सा ऊपर किया और बोला, "चैम्पियन! आई एम चैम्पियन!" चेतन का चेहरा बुझा हुआ था। वह सीढ़ी पर, दोनों हथेलियों में अपनी ठुड्डी रखे हुए, मायूस बैठा था।

हम शाम को सात बजे लौट आए। चेतन टैक्सी का स्वागत करने बाहर नहीं आया। पवन हाथ में मौसी द्वारा दी गई चॉकलेट लेकर अंदर की ओर दौड़ा, "अरे चेतन! चेतन! देखो मैं तुम्हारे लिए क्या लाया हूं।" मगर अंदर से कोई जवाबी चीत्कार नहीं सुनाई दी।

मुझे उसी दिन वापिस जाना था। मैं पापा से इजाजत मांगने उनके कमरे में गया। अम्मी भी वहीं बैठीं थीं। चाय पीते हुए पूछ ही बैठा, "क्यों अम्मी, आज दिन-भर चेतन क्या करता रहा?"

अम्मी ने मेरी तरफ एक विचित्र भाव से देखा। मुझे लगा कि कुछ अप्रत्याशित हुआ है। विस्मय भरे स्वर में बोली, "राजेंद्र, आज एक अजीब बात देखी। चेतन सारा दिन पढ़ता रहा। पल-भर के लिए बाहर नहीं गया। उसने टी० वी० भी नहीं देखा। शोर नहीं मचाया। खाना भी थोड़ा-सा ही खाया। पता नहीं, वह कहीं बीमार तो नहीं।"

मैं मुस्कराया, "नहीं अम्मी, वह बीमार नहीं है। तुमने जैकी और मिकी को नहीं देखा है। एक दिन मेरा एक दोस्त जैकी को मांगकर ले गया। सारा दिन मिकी ने पानी तक नहीं पिया। अम्मी, चेतन बीमार नहीं, अकेला था।"

दरवाज़े पर बाला खड़ी थी। मैंने पापा और अम्मी के पैर छुए। अपनी अटैची उठाते हुए मैं बोला, "अम्मी, यह गुण्डे नहीं, पिल्ले हैं।"

जब मैं बाहर निकला तो बाहर लॉन में चेतन और पवन फिर उलझे हुए थे। टैक्सी में बैठते हुए मैंने सुना चेतन कह रहा था, "तुम मस्केबाज़ हो। तुमने चाचू का मस्का लगाया, तभी वह तुम्हें मौसी के पास ले गए।"

पवन ने जोरदार जवाब दिया, "तुम्हें अगर तस्मा नहीं बांधना आता तो तुम बड़े काहे के हो?"

उसी वक़्त टैक्सी चल पड़ी और मैं आगे की दिलचस्प बातचीत न सुन सका।

[सी० 11, बेमलोई, शिमला-171001]

यहां भी हंसो

□ मालचन्द तिवाड़ी

उस दिन धूप तेज थी न, तुम्हें याद होगा ।

जब हम डाक्टर के कमरे पर पहुंचे, पता चला कि वह वार्डों के दौरे पर हैं । हम कुछ देर रुके, फिर डाक्टर को देखने निकले । वार्ड दूसरे हिस्से में थे । एक फालतू चक्कर लगाकर हम लौट आए । डाक्टर हमें नजर नहीं आया था । चलने-फिरने और धूप से तुम पस्त हो गई । तुम्हारी हांफनी उभर आई । पपोटे भारी दीखने लगे । चेहरा लाल-चुट । फिर भी तुम रोई न थी । क्या इसलिए कि तुम बेहद खुश थी ?

मुझे क्यों लगा कि तुम्हारी खुशी सायास है, सहज स्फूर्त नहीं । तुम यह सिद्ध तो नहीं कर रही थी, कि मेरे साथ किसी सूरत में भी खुश रह सकती हो । रास्ते भर क्या यही नहीं करती रही । तुम बोल नहीं, चहक रही थी । तुम्हारी वे दूर-दराज बिखरती बातें—प्राय: बेतुकी सी । बीच-बीच में मैं साधारण-सी टिप्पणियां करता रहा, जिन पर बेमतलब चौंककर तुम मुझे घूरने लगती या मुंह दबाकर हंसतीं । मैं सोचने लगता कि तुम किसी जिद पर अड़ी हो ।

यह भला कैसी जिद है ? इसका चेहरा कितना सलौना और मोहक है कि जिसने देख लिया, वही अड़ बैठता है । जिन्दगी की तमाम हील-हुज्जत और चिल्ल-पों के दरम्यान कुछ लयबद्ध, मद्धम-मद्धम-सा सुटीला-सा संजोने की जिद, जिसमें लगे कि हम सिर्फ भागे नहीं, सच-मुच जीये हैं । इस जिये हुए का सबकुछ फीका-फीका और बेरंग, बेनूर तो नहीं था...कितने-कितने अनदेखे, अनछुए और अनचखे रंग, सुख और स्वाद छिटके पड़े रहते हैं, हमारी धुंधली आंख मांज तो दे कोई !

देखो, हंसना मत । बात कुछ दूसरी है ! हां, डाक्टर नहीं आया था । खड़े-खड़े तुमने दीवार की टेक ले ली । तुम मन को थामे थी, देह तुमसे न थमी । रोगग्रस्त थी न देह ! इस रोगी देह में तुम्हारी कामना की गूंज मुझे सुनाई पड़ी । तुमने सलेटी रंग की घेरदार फ्राक पहन रखी थी । घेर पर नीला बोर्डर था, जो इस फ्राक को उतना ही सजीव बनाए था, जितना हंसी तुम्हारे चेहरे को बनाती है । लम्बे केशों को एक तरफ काढ़कर तुमने वेणी गूंथ रखी थी, जिसके लटकते छोर पर रीबन का सफेद फूल बंधा था । तुम्हारी उपस्थिति किसी साक्षात् संदेश जैसी थी, कि कामना ही सबकुछ है जो आदमी को जीने के अहसास से अछूते कीड़े से अलहदा करती है ।

तुम्हें मालूम है ? शायद हो, कि कामनाओं का होना कुछ भी नहीं होता। आदमी को उनका भरपूर ख्याल रखना होता है। उनको वैसे ही लाड़-दुलार, देखभाल और डांट-फटकार की दरकार होती है। जैसे आदमी की औलाद को। आदमी की कामनाओं के बदचलन होने का खतरा तो उसकी औलाद से भी बढ़कर होता है।

"आओ थोड़ी देर बैठ जाएं ! मैं तुम्हें रोगी प्रतीक्षालय में ले आया था।

लाल पत्थर की चौड़ी सीढ़ियां पारकर हम भीतर आए। भीतर अस्पताल की चिर-परिचित गंध बसी थी, जो बदरंग दीवारों के बीच बेवजह असहाय लगने लगी। छत इतनी ऊंची थी कि ऊपर देखने पर मजा आया। कोनों पर जाले और बीच में धूल सना पंखा बंद हालत में लटका था। मैंने इस पंखे की तुलना मरे हुए भुनगे से की, तो तुम हंसी नहीं रोक पाईं। अहाते के दोनों बाजुओं में लम्बी बेंचें थीं। बीच से होकर लोग आ जा रहे थे।

हमें बेंच पर बैठे थोड़ी देर हुई, कि वह आ गई। हां, उसकी बात कर रहा हूं—वह पीली चुनरी वाली ! याद आया होगा आसमानी पृष्ठभूमि पर नीले-नीले बूटोंवाला उसका घाघरा ! उसे देखते ही तुम्हें उससे दिलचस्पी हो गई थी न !

उसके साथ मजबूत कद-काठी की बूढ़ी औरत थी। काले घाघरे पर कत्थई लूगड़ा उसके वैधव्य का सूचक था, जिसकी न जाने कहां से वह बेहद अभ्यस्त लग रही थी। पीली चुनरी वाली कुछ देर इस बुढ़िया की गोद में लुढ़की पड़ी रही, फिर आंखें मूंदकर सो गई। कुछ देर बाद एक आदमी आया, तीस पैंतीस की अवस्था का और शक्ल से ही उज्जड़, जो फिजूल की-सी उतावल में लड़की की नाड़ी टटोल कर चला गया। जाते हुए यह हमारे सामने से गुजरा था और कुछ बड़बड़ाता जा रहा था। मुझे इसकी बत्तीसी की झलक दिखाई पड़ी, दांत इतने पीले थे जैसे इसने मुंह में हल्दी घोल रखी हो।

तुमने यों ही पूछ डाला कि इस पीली चुनरी वाली का कौन हो सकता है ? फिर तुमने कहा कि स्वस्थ होने पर यह पीली चुनरी वाली बहुत सुन्दर लगेगी। मैंने बुढ़िया की गोद में उसका मुंह गौर से देखा। वह प्राय: अचेत थी। मुंह से लार बह कर सूख चुकी थी, मक्खियां मंडरा रहीं थीं और उघड़े सिर के रूखे-बदरंग बाल बिखरे पड़े थे।

"पानी !" सहसा वह कराही।

"पानी ?" बुढ़िया ने बदहवासी में इधर-उधर देखा और पुकारा, "रामरिखिया···ओ रामरिखिया !"

"ऐ डोकरी, क्यों शोर मचा रही है ? यह तेरा खेत नहीं है, समझी ?" बुढ़िया के दो-तीन बार पुकार चुकने पर एक कम्पाउन्डर आया और धमकाकर चला गया।

"उठो !" तुमसे रहा नहीं गया, तुमने मुझे चौंककर कहा, "बुढ़िया को पूछो न, क्या करना है।"

तुम नहीं जानती कि मैं तुम्हारे कहने की ही राह देख रहा था, पर तब भी मैंने उठते हुए तुमसे कहा, "तुम मेरे पीछे अकेली···।"

"जाओ न, मैं अकेली कहां हूँ ? ये जो हैं। जाओ !" तुमने मुझे यूं कहा जैसे मैंने कोई कसूर किया हो।

मैं बुढ़िया के पास गया। थोड़ी-सी पूछताछ के बाद उससे बर्तन लेकर पानी ले आया।

"उसे क्या हुआ है ?"पानी देने के बाद, कुछ देर बतिया कर मैं बुढ़िया के पास से

लौटा, तो तुमने बहुत बेसब्री से पूछा।

"सुनोगी ?"

"बताओ न !" तुम्हारी बेसब्री तट तोड़ने लगी।

"सुनो !" मैंने धीमे-धीमे बताया, इसे छः माह का गर्भ था। कल इसके पति ने पेट पर लात मार डाली। खून बहने लगा। रात तक हालत बिगड़ने लगी, तो ऊंट-गाड़े में डाल कर यहां लाना पड़ा है। अब डाक्टर की राह देखी जा रही है।"

"यह···यह आदमी कौन था ?" तुमने उस पीले दांतों वाले के बारे में सहमते-सहमते-से पूछा।

"इसका सगा चाचा। बुढ़िया कहती है, इससे इसे कुछ भी मोह-ममता नहीं। लोक-लाज निभाने साथ चला आया है।"

"और बाप ?"

"बुढ़िया ने बताया था कि कोई महीने पहले उसे खेत में सांप डस गया था। गांव में झाड़-फूंक से पार नहीं पड़ी, तो इसी अस्पताल में लेकर आये। यहां पहुंचने तक उसमें सांस थी, पर डाक्टर ने छूते ही गर्दन हिला दी। इस लड़की का क्या होगा, बुढ़िया को यही फिक्र है।"

बुढ़िया की गाथा में डूबा-सा मैं देख ही नहीं पाया कि तुम्हारी आंखें छलछला आयीं हैं। तुमने रुंधे हुए गले से पूछा, "क्या गांवों में इलाज नहीं होता ?"

"जरूरत क्या है ?" तुम्हारे मासूम सवाल पर अपने अनजाने ही में चिढ़-सा गया, "गांव की आबो-हवा में कोई बीमार पड़ ही नहीं सकता। डाक्टरों की राय है कि ये सब ढोंगी हैं।" कहकर मैंने अपनी तर्जनी तमाम गंवई किस्म के मरीजों पर लहरा दी।

तुमने गर्दन झुका ली। अपना रुमाल आंखों से सटाकर तुमने आंसुओं को आंखों में ही रोक लिया।

"डाक्टर सा'ब आ गये···!"

"डाक्टर सा'ब आ गये···!"

समवेत स्वर में सुनने लगा। भीड़ हड़बड़ाकर जागी; डाक्टर के कमरे पर, लपक-लपककर, छाते की शक्ल में जमा होने लगी। पीली चुनरीवाली सोयी थी, बुढ़िया झिकझिक कर रही थी जिस पर ध्यान देने की फुर्सत किसी को न थी। यहां तक कि हमें भी उठना पड़ा।

अस्पताल से लौटते हुए तुम एकदम निढ़ाल दीखने लगी। तुम्हारी आंखों में किसी भी क्षण रुलाई का अंदेशा था। हल्की-फुल्की बातों में उलझाए मैं तुम्हें एक रेस्टोरेंट में लाया। एक केबिन में बैठने के बाद मैं तुम्हें बहलाने के हजार जतन कर लेना चाहता था।

"सुनो, ऐ !" तुम्हारे गाल पर हल्की-सी चपत लगाकर मैंने कुछ कहना चाहा।

"ऊं···क्या करते हो !" तुम सुस्ती छोड़ने को जैसे तैयार न थी।

"कुछ याद करोगी ?"

"क्या ?"

"अस्पताल की सीढ़ियां और फर्श।" मैंने चहक कर कहा।

"मजाक क्यों करते हो···उनको कौन याद करेगा ?" तुम उकताहट से बोली।

"तुमने देखा, लोग अस्पताल में कैसे डरे-सहमे आते हैं। अन्दर कदम रखते ही उठने की बजाय उनके पैर घिसटने लगते हैं। याद करो बेचारे फर्श की बीचों-बीच घिसावट से कैसी

हालत खराब थी···!" कुछ ठहर कर मैंने तुम्हारा मुंह उठाया और कहना शुरू किया, "सिर्फ एक आदमी अस्पताल में कदम उठाकर चलता नजर आया। मैं अचम्भे में भरकर देखता रहा, पर पास से गुजरा तो पोल खुल गई। उसके एक पैर में चप्पल नहीं थी। टूटी चप्पल उसने हाथ में उठाकर पीछे छिपा रखी थी। उसकी उतावली और झेंपी हुई सूरत बड़ी मजेदार लग रही थी। उसे देखकर तुम्हारा हंसते-हंसते बुरा हाल हो जाता और मैं तुम्हें जरूर हंसाता, अगर उस पीली चुनरी के फेर में···!"

अन्त में मैंने अपनी आंखें नचाकर तुम्हें भेंगी निगाह से देखा—मैं जान चुका कि तुम्हें हंसाने का मेरा यह अंतिम और अचूक उपाय जरूरी हो गया है।

तुमने नजर उठाई। कंजूरी से होंठ खोले, धीमे से हंसी। खुशी और शिकायत की तुम्हारी यह साझी अदा, काश तुम खुद कभी देखो। मैं भाव-विभोर हो गया। अपना हाथ तुम्हारी ओर पसारा मैंने। तुमने मुखड़ा मेरी हथेली पर टिक जाने दिया।

"चाय में मक्खी न पड़ जाए, भैयाजी!"

काउण्टर पर से चिल्ला कर शायद किसी ऊंघते ग्राहक को सावधान किया गया। हमें भी होश आ गया। हमारे बीच भी तो चाय अभी तक अनछुई पड़ी थी। कुछ देर पहले बेयरा रखकर गया था।

"तुम बदमाश हो!" भावावेश में तुमने पहली बार मुझे "तुम से सम्बोधित किया था और खुद ही झेंप गयी।

"तुम शरीफ? एक फल होता है—शरीफा, खाने में लजीज पर ऊपर से खुरदरा।" मैंने चटखारा भरा।

इस बार तुम खुलकर हंसी, तो लगा कि पक्के आंगन पर बाजरे के दाने बिखरे हों।

मैं इतराया-सा उठकर मेज के पार, तुम्हारे एकदम करीब चला आया। मैंने तुम्हारे कन्धे पर हाथ रखा। तुमने मेरा हाथ पकड़ा और उससे लिपट-सी गयी। अपना मुखड़ा तुमने मेरी बांह पर टेक दिया। मैंने ऊपर उठाया, तो देखा कि एक जोड़ी कमल फिर चू पड़े थे।

"अन्ना···!" मैंने तुम्हें पुकारा। तुम्हें याद होगी, चेखव की कहानी 'कुत्तेवाली महिला' ···मैंने तुम्हें एक बार पढ़कर सुनाई थी।

तुम्हारा भीगा मुखड़ा मैंने हथेलियों में भर लिया। पूछा, "हंस रही थी या हंस-हंसकर आंसू बहा रही थी?"

"वह पीली चुनरीवाली···शायद उसे खून चढ़ाना पड़ेगा···वह बच जायेगी?"

मैं क्या बताता?

"केबिन छोड़िये···ग्राहक खड़े हैं!"

काउण्टर से आवाज आई। हमें उठना पड़ा।

मैंने तुम्हें नहीं बताया था कि जब मैं काउण्टर पर पैसे चुका रहा था, तो हमारी चाय लानेवाला बेयरा मेरी तरफ आंख मार कर मुस्कुराया था—मानों किसी संगीन सफलता पर बधाई दे रहा हो! हंसो···यहां भी हंसो और कहो कि आपकी कोई बात समझ में नहीं आती, सिर्फ उन पर हंसी आती है।

जो हो, उस पीली चुनरीवाली के बारे में अपने सवाल का जवाब तो जान लो। इसी के लिए मैं दुबारा अस्पताल गया था। पता चला, डाक्टर वहां सबसे अन्त में तब पहुंचा, जब

बुढ़िया ने चीख-चीखकर समूचा अस्पताल सिर पर उठा लिया।

सुनो, आगे क्या हुआ।

डाक्टर ने उसकी बन्द आंखें खोलकर भीतर झांका, तो मौत वहां अपना डेरा डाल चुकी थी। स्टेथोस्कोप तो पहले ही चुप्पी बता चुका था। अब डाक्टर बेचारा सिवाय लाचारगी से गर्दन हिलाने के क्या कर सकता था ?

डाक्टर ने यही किया कि बुढ़िया को दौरा पड़ गया जैसे, वह बिल्ली की तरह झपटी और उसने डाक्टर का मुंह नोच लिया। लोग दौड़-दौड़कर आए और बुढ़िया को जकड़ लिया गया। बुढ़िया बेहद मजबूत थी, मुश्किल से काबू में आई। सबके पकड़े-पकड़े ही वह डाक्टर को मुंहछूट गालियां बकती रही।

आखिर सबने एकमत होकर कहा कि बुढ़िया पागल हो गयी है।

जरा तुम भी सोचना कि बुढ़िया को क्या हो गया ?

[कालूबास श्रीडूंगरगढ़-331803]

बाल सेना का कूच

☐ वोल्फडिटरिष सनूर

[वोल्फडिटरिष सनूर का जन्म 22 अगस्त, 1920 को फ्रैंकफुर्त में हुआ। कहानी, समीक्षा, कविता, लघुकथा तथा बाल साहित्य आदि विधाओं में साहित्य रचना। इसके अतिरिक्त पत्रकार तथा दूरदर्शन कलाकार भी। सन् 1938 में स्कूल तक की शिक्षा लेने के बाद 1939 से 1945 तक अनिवार्य सैनिक जीवन। सन् 1958 में पश्चिमी बर्लिन फोनटाने पुरस्कार और 1959 में ड्यूजलडोर्फ शहर से इमरमान पुरस्कार प्राप्त।

द्वितीय विश्व महायुद्ध को लेकर और उसके बाद नाजी युग की बर्बरता पर काफी रचनाएं लिखीं। यह वह समय था जब जर्मनी की समस्त युवा शक्ति समाप्त हो चुकी थी। स्कूली बच्चों को मामूली सैनिक प्रशिक्षण के बाद युद्ध के मैदान में भेज दिया जाता था। यह कहानी उसी दौर की है।]

सुबह छ: बजे से ही वे पंक्तिबद्ध होने लगे। अंधेरा अभी तक छाया हुआ था। वे एक संदूक के सामने आकर खड़े हो गए। संदूक पर एक झंडा लहरा रहा था। झंडे में एक क्रूस का चित्र और एक पुस्तक का चित्र छपा हुआ था।

सर्चलाइट जल रही थी।

वे अपनी आंखें मल रहे थे। कुछ तो अभी तक एक-दूसरे का सहारा लिए, खड़े-खड़े ऊंघ रहे थे। उनके हाथों में राइफलें थीं। अभी तक उन्होंने राइफलों को ढंग से पकड़ना और रखना भी नहीं सीखा था।

गेट के बाहर उनकी माताएं चुपचाप खड़ी थीं।

संतरी ऊपर-नीचे आ-जा रहे थे, उनके स्टील के हेलमेट चमक रहे थे।

हल्की-हल्की बूंदा-बांदी हो रही थी और कोहरा छाया हुआ था।

छावनी में अभी तक रोशनी जल रही थी। अंडर आफिसर्स दौड़-दौड़ कर देरी से आने वालों को बैरक से निकालकर ला रहे थे। वे आंखें मूंदे, एक हाथ में राइफल व दूसरे में कपड़े का भालू या गुड्डा थामे, लड़खड़ाते हुए सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे।

"दौड़ के चलेगा, दौड़ के चल।" बूढ़े सारजेन्ट ने आर्डर दिया।

वे दौड़ने लगे।

"परेऽड थम। गिनती करेगा, गिनती कर।" सारजेन्ट ने फिर आर्डर दिया।

सारजेन्ट का आर्डर जलतरंग की झंकार की तरह कतारों को चीरता हुआ बह रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे सारजेन्ट ने शराब के गिलास उड़ेल रखे हों और शायद इसी वजह

से आवाज में जोश था।

"ठहरो। गिनती बंद करो।" सारजेंट ने कहा।

"हम अगले चारों को गिनती नहीं आती।" एक ने कहा।

"मुझे अफसोस है।" सारजेन्ट ने कहा। "अच्छा चलो, लाइन तोड़ो और अपनी-अपनी पेंसिल निकालो। अपने आप गिनो। अपने नकाबों को भी ठीक ढंग से टांक दो।" अंधेरे में चबूतरे के पीछे रसोड़े की भट्टी जल रही थी। कुकर का ढक्कन बन्द था और उसकी सीटी बज रही थी।

बैठक से निकल कर अंडर ऑफिसरों ने सैल्यूट मारी और बायीं विंग की तरफ जा खड़े हुए।

बाहर खड़ी माताएं द्वार की सलाखों में से झांक रहीं थीं। उनमें से एक ने पुकारा—"हाइनी"।

धुन्ध अब कुछ कम पड़ने लगी जिससे छावनी में बने शौचालयों को पहचाना जा सकता था।

अब बाल सेना के निरीक्षण के लिए सेना नायक पधारे। उसकी दाढ़ी दूध की तरह सफेद थी और वह लकड़ी के सहारे चल रहा था।

"परेऽड थम।" सारजेन्ट ने कहा।

रसोड़े में रसोइया कुरचे से अटर-पटर कर रहा था।

बच्चे अपने भालुओं व गुड्डों को बगल में दबाए हुए तत्परता से रसोड़े को ताक रहे थे।

"दाहिने देखेगा—दाहिनेंऽ देख।"

अगले विंग का सबसे अगला झुककर प्रणाम करता है।

"सेना नायक को रिपोर्ट करेगा, रिपोऽर्ट कर।" सारजेन्ट सेना नायक के पास जाकर एड़ी को जोर से ठोकता है और कहता है, "बाल सेना नं० 617 कूच के लिए तैयार है।"

"धन्यवाद।" सेनानायक ने कहा। उसने अगली विंग को एक तरफ बुलवाया। उसके पांवों में लोहे के पैबन्द लगे हुए थे। उसका पांव उठते वक्त 'क्लिक' और आगे बढ़ाते हुए 'क्लाक' की आवाज़ करता था।

"विश्राम करेगा, विश्राम।" कुछ बच्चों ने विश्राम नहीं किया तो सारजेन्ट ने दुबारा चीखते हुए कहा, "अरे! विश्राम हो जाओ।"

सेनानायक ने अपने हाथ चबूतरे पर टिका दिये और अब वह बच्चों को मक्खन लगाने लगा, "गुड मार्निंग, मेरे बच्चो!"

"गुड मार्निंग अंकल।" बच्चों ने कहा। कुछ बच्चे लाइन तोड़कर सेनानायक से हाथ मिलाना चाहते थे किंतु दूसरों ने उन्हें हाथ पकड़कर पीछे खींच लिया।

धुन्ध और बरसात पुनः बढ़ने लगी। उषाकाल धुन्ध में छटपटा रहा था। स्तम्भ पर से सर्चलाइट आंगन में रोशनी बिछा रही थी।

"आज तुम सब रणक्षेत्र में जाओगे।" सेनानायक ने कहा।

"यश अंकल।"

"आज का दिन तुम्हारे लिए गौरवपूर्ण दिन बनकर आया है।"

"यश अंकल।"

"मैं आशा करता हूं कि तुम लोग आज अपना साहस दिखाओगे और अपने पिताओं की तरह ही निडर और बहादुर बने रहोगे। तुम्हारे पिता धन्य हैं।"

"यश अंकल"।

"अब तुम इस देश की आखिरी श्वास हो।"

"यश अंकल।"

"पितृभूमि को तुम पर गर्व है।"

"बकवास।" रसोइया रसोड़े से अपने हैल्पर पर चीखते हुए बोला—"अरे! नमक तो डाला ही नहीं।"

"तुम लोगों पर हमें गर्व है," सेनानायक ने कहा।

"यश अंकल।"

"अब पादरी साहब पधारते हैं।"

"पादरी साहब, इनसे मिलिए, ये हैं सेनानायक साहब," सारजेन्ट ने कहा।

पादरी साहब ने भी वर्दी पहन रखी थी, इत्र लगाए हुए थे, और गले में चान्दी की चैन में क्रूस लटकाए हुए थे। उनके जूते चमक रहे थे। सारजेन्ट के परिचय कराते ही पादरी साहब ने सेनानायक को सैल्यूट मारा।

"आप ठिगने ज़रूर हैं पर साथ ही खुशमिजाज भी," सेनानायक ने पादरी की प्रशंसा करते हुए कहा।

पादरी ने पुन: सैल्यूट मारते हुए कहा, "आप ठीक कहते हैं सेनानायक साहब।"

वह उछल कर हल्के से चबूतरे पर चढ़ गया और क्रूस को तर्जनी से झुलाते हुए कहा, "मेरे प्यारे बच्चो।" सभी बच्चों की नज़रें पादरी की तरफ घूम गईं।

"आज तुम दुश्मनों से टक्कर लोगे और हमारी गौरवमयी पितृभूमि पर लगे दाग को मिटा दोगे।" पादरी ने कहा।

"यश सर," बच्चों ने कहा।

"मेरे प्यारे बच्चो शायद तुम्हें मालूम ही होगा कि इस दुनिया में एक ऐसा भी व्यक्ति है जो युद्धभूमि में शत्रुओं का नाश करने में हमारी मदद करता है।" पादरी ने मुस्कराते हुए कहा।

"नहीं।" बच्चों ने कहा।

"अरे! यह क्या कहते हो मेरे प्यारे बच्चो! तुम्हें उस व्यक्ति की जानकारी होनी चाहिए।"

"यश सर।"

"अच्छा तो फिर सुनो।" पादरी साहब ने क्रूस को तर्जनी से घुमाते हुए कहा, "यही है हमारी महाप्रतापी सैनिक टुकड़ियों का मुख्य सेनापति।"

रसोड़े में रसोइया ने कूकर का ढक्कन खोला, भाप बाहर निकलने लगी। "सब बकवास हो गया, साला जल गया।" वह हैल्पर पर चीखा।

"सभी महाप्रतापी टुकड़ियों का।" पादरी ने खंखारते हुए कहा। "वह अब तुम्हें भी एक दिव्य दृष्टि से देखेगा। तुम उसी के बहादुर पुत्र हो और उसने मुझे अपना सेवक समझकर तुम लोगों को महान सफलता का आशीर्वाद देने भेजा है।" पादरी ने अब अपनी बाहें फैला दीं

और कहा, "आमीन।"

"आमीन।" सारजेंट ने भी कहा।

सेनानायक ने घड़ी की ओर देखा।

"जरा ठहरिए सेनानायक साहब," पादरी ने हाथ फैलाए हुए ही कहा, "अच्छा बच्चो। मैं तुम सभी को एक-एक क्रूस देता हूं। यह सर्वशक्तिमान खुदा, तुम्हारे और तुम्हें जिताने वाले हथियारों का खुदा, जंग में तुम्हारा साथ ही नहीं आनन्द भी देगा।"

"काफी पी लो।" रसोइए ने आवाज लगाई।

पादरी ने हाथों को नीचे करते हुए कहा, "आमीन।" उसकी आवाज में कंपकंपी थी।

"अच्छा पादरी साहब। आपने सारी क्रियाएं पूरी कर दीं तो फिर अब आप भी काफी पी लीजिए।" सेनानायक ने कहा।

"काफी पी लो।" सारजेंट ने बच्चों से कहा।

बच्चे जल्दी से अपने-अपने मग्गे लेकर रसोड़े की ओर दौड़े। उनकी पीठ पर लदे किट ऊपर-नीचे उछल रहे थे।

अब धुन्ध ने अपना प्रकोप कम कर लिया था और दिन प्रकाशमय हो गया था। द्वार पर खड़ी माताओं को अब अच्छी तरह से पहचाना जा सकता था। उनके हाथों में लाल, नीले, हरे, स्कूल के बस्ते थे। बस्तों पर सफेद चिकना कागज़ लपेटा हुआ था। वे हाथ हिलाकर बच्चों को विदाई संकेत दे रही थीं।

मुख्य सड़क पर कुछ वृद्ध लोग सीने पर पहनने के कवच बना रहे थे।

रसौड़े में बच्चे लाइन में खड़े-खड़े आपस में लड़ रहे थे।

"अरे छोड़ो, जल्दी करो।" सारजेंट चीखा।

काफी पीने के बाद वे कूच के लिए पंक्तिबद्ध होने लगे। जब सभी बच्चे आ गए, तो सारजेंट ने उनको शस्त्रों से विभूषित कर दिया। "अरे! अब तो तुम इन भालुओं और गुड्डों को एक तरफ फेंक दो।"

"नहीं अंकल।" सब बच्चे एक साथ बोल पड़े।

"मेरे प्यारे बच्चो, बहादुर बच्चो," पादरी ने बाइबल बैग में रखते हुए कहा, "हां, तो पितृभूमि चाहती है कि तुम सर कटा दोगे, मगर झुकाओगे नहीं।"

एक अर्दली दौड़ता हुआ आया, "सेनानायक साहब, नाश्ता तैयार है।" पर सेनानायक ने कहा, "इन्हें मार्च करने दो।"

मार्च करते हुए सारजेंट ने सैल्यूट मारा। अंडर आफिसर भी साथ-साथ चलने लगे। सभी अफसर लकड़ी के सहारे ही चल रहे थे। उनमें से कोई भी साठ वर्ष से कम नहीं था।

चौकीदार ने द्वार के पट खोल दिए। माताओं को पीछे धकेल दिया गया। एक मां पुकार रही थी, "हाइनी"। धुन्ध के कम हो जाने के बावजूद भी सड़क के पेड़ों पर उसका अभी तक प्रभाव था। बूंदाबांदी हो रही थी।

"परेड थम।" सारजेंट ने आर्डर दिया। "इसी तरह आगे बढ़ेगा, आगे बढ़।"

"नमस्ते, फिर मिलेंगे अंकल।" बच्चों ने सेनानायक से कहा—सेनानायक लंगड़ाता हुआ चल रहा था। एक अर्दली ने उस पर छाता तान रखा था।

"गाना गाते जाओ।" सारजेंट ने कहा।

"नन्हें-नन्हें बुलबुल," बच्चे गा रहे थे। सबसे आगे वाला सुर दे रहा था।

"एक, दो, तीन, चार," अंडर आफिसर सेना की गिनती कर रहा था।

वे गाते हुए जा रहे थे, एक मधुर व जोशीला गीत। अंडर आफिसर गीत का भाव समझ रहे थे।

माताओं की तरफ देखे विना ही वे उनके करीब से गाते हुए मुख्य सड़क पर चल पड़े।

वृद्धों ने अपनी नजरें ऊपर उठाईं और आंखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे। वे खेतों में आलू बो रहे थे।

"हाइनी।" एक मां ने फिर पुकारा।

"नहीं लौटेंगे, नहीं लौटेंगे, बुलबुल नहीं लौटेंगे।" बच्चे गा रहे थे। खेतों में बुजुर्ग लोग आलू बो रहे थे। उनके बोरे खाली थे। गिद्ध आकाश में उड़ रहे थे। शहर के बाहर वस्त्र उद्योग धुआं छोड़ रहे थे। सड़क बहुत चिकनी थी। इन्द्रधनुषी रंग के तेल के धब्बे उस पर छितराए हुए थे। तेल के धब्बों में आकाश मटियाला-सा प्रतिबिम्बित हो रहा था।

अनुवाद : गुलाब सिंह भाटी
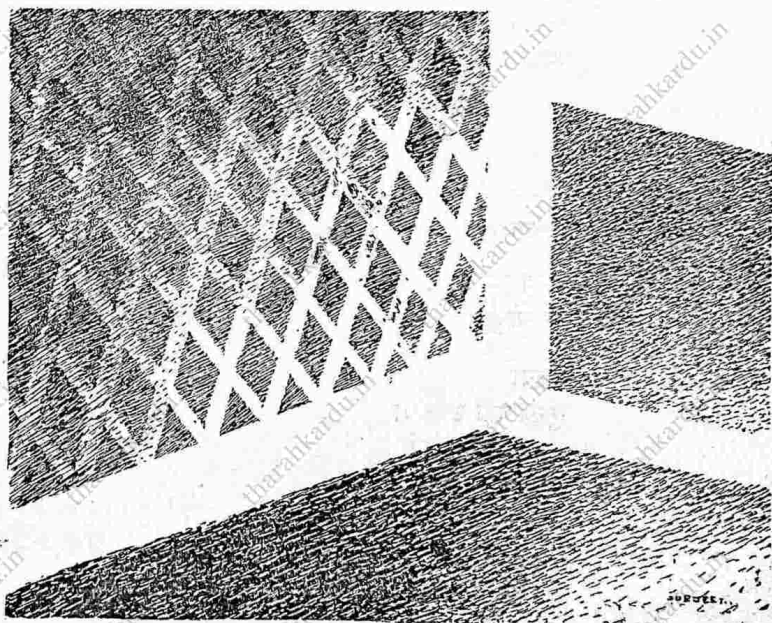
कविता

भीगी लड़कियां जिन्हें वेश्या समझा गया

□ सोमदत्त

भइया, वे न अप्सराएं थीं न वेश्याएं
वे लड़कियां थीं गरीबों की
बरतन मल के, कपड़े धो के जूठन खा के
दफ्तरों में पोंछा लगा के, पानी पिला के,
पुराने कपड़ों के बदले स्टील के बर्तन बेच के
बदन से खेल के सारे काम
बदनाम कमा के, झेल के सुन्दरी दासियों की कथाएं

1986 के भादों में
उमगती
पंछियों की पहली चहचहाट
वे तीन सहेलियां

दर-दर भटक-घर नाम के जर्जर लौटतीं
फर-फर-फर—चह-चह-चह—चिं चिं चिं

भइया
सूरज नहीं उगा था
कउए नहीं बोले थे
गौरैया नहीं उठीं थीं
जब
तब
उनने अपनी बाहें पूरब-पच्छिम
अपनी टांगें उत्तर-दक्खिन फैलाईं

नापा अंतरिक्ष जोखी धरती तन भर
भरे बदन उखड़े सपन से
और उठ खड़ी हुईं
हड़बड़ा के
दतून घर में थी नीम का कटता रुख
कुल्ला भर पानी
चुल्लू भर जीवन
हाथ भर कोशिश
मां की
भाई की
बहन की
बदहवास भौजाई की
दूर के मामा की—फुआ की
कब से चले आए ऊंचे खानदान की
ऊंची नाक की इज्जत
बचाने की

भइया
आखर तो उसने चार ही पढ़े थे चतुराई के
लेकिन आंखिन देखी पूरी किताब
अपने पन्नों पे लिखी जाते

भरे जेठ
भर बैसाख
उमस भरे सावन के बाद
भर भादों पहली झड़ी
वे भीगीं
(सस्ती से सस्ती
बरसाती
झीना से झीना
छाता
न था उन्हें बदा तनखाहों में)
भीगीं वे विनोद में
कि अकारथ न जाय बाब घरों की ख़ातूनों सी

उनकी पसलियों उनकी जांघों की मछलियों की तड़प
भीगीं वे मचल मचल कर बिजलियों सी
कि सकारथ हो सकारथ हो मेघ
अकारथ भले चली जाय दौड़ते उन्हें देख
चांदनी चौक के चौकड़ी भरते हिरणों की छलांगें
पोखर में डूब जायें दरियागंज के दरिया दिलों की किताबें
कुमारगियों के दिन
बहादुरशाह ज़फर मार्ग पे
भले हो जाएं अस्त
काले को सफेद सफेद को काला
करते-भरते अपने कलमों में स्याही, जेब में पैसा,
आत्मा में अहं—ब्रह्मास्मि

(जनसत्ता में छपी विनोद भारद्वाज की कविता पढ़ के)

पांच कविताएं

□ मोहन राणा

अकेली आवाज़

दिन-रात गिरती रहती हैं
नीम की पीली पत्तियां बे-आवाज़

उड़ते पीले रंग से भर जाती है
काली सड़क सुबह से शाम
गौरैया की अकेली आवाज़ के बीच।

जब पतझड़ अपने दिन गिन रहा है
चुपके से सरक रहा है वसंत और
आ रहा है ग्रीष्म चमकता हुआ।

उड़ान

सुबह की जल्दी में देखता हूं
सूखे पत्तों के ढेर उठता धुआं
पीली धूप में फैलता
खामोशी के साथ

एक पूरे बरस की स्मृतियां

शहर भूलना चाहता है
अपनी उड़ान में

सीत्कार

तेज हवा की सीत्कार
बरबस खींच ले जाती है
कमरे के बाहर

अंधेरे में गिर रही हैं
गरजते आकाश से बूँदें
कभी चमक
दिखते हैं पत्ते असहाय
हवा के साथ फर्श पर रगड़ खाते

अंधेरे में बोल उठता अचानक
नीम की शाखों में उल्लू

फिर एक सीत्कार
डूब जाती है रात

भोजवासा में रात-1

रात बर्फ़ गिरी थी
चलती रही सर्द हवा
टीन की छतों से टकराती

नींद में नहीं थे सपने
बर्फ़ भी सफेद
जमती हुई चारों ओर,
आदमी बर्फ़ बनता हुआ।

भोजवासा में रात-2

रात मैंने याद किया
सब दोस्तों को
वे मुस्करा रहे थे

नहीं, वे सोए होंगे
पहाड़ों के पार
बड़े शहर में पसीने से भीगते,
बिजली नहीं होगी !
यहां भी नहीं है
मंद रोशनी वाले लैम्प की
कांपती लौ को घेरे हुए है ठंडा अंधेरा

मैंने उनसे कहा
यहां आग नहीं है न ही धुंआ
न कोई चीख

खामोश ढलानों से
घाटी में उतरती हवा की आवाज़

फिर भी नहीं हूं दूर तुमसे

[22/4 रामनाथ मार्ग, दिल्ली-110054]

तीन कविताएं

☐ कैलाश आहलुवालिया

बर्फ़ के नन्हे आभास

मैं जब
तुम्हारे वक्ष की
सीपियों में
झांकता हूं
तो एक धरातल
और नीचे
उतर जाता हूं
मैं
शिखर नहीं हूं
न आसमान
न पेड़
न लैम्प पोस्ट

रोशनी के छोटे से
घेरे में
बन्द रहने दो मुझे
अपनी संवेदनाएं
जीने दो

मत सिखाओ मुझे
दरिया का बहाव
ये कटाव, ये दुराव
पड़ा रहने दो मुझे
झील के ठहराव में
काई सा—

मुझे कालाग्नि में
मत घसीटो
सीपियों का
सत्य जीने दो मुझे
रहने दो मेरे पास
बर्फ़ के नन्हे आभास
और पीड़ा के
कुरमुरे संताप
जाने क्यों लगता है
बार-बार
कि तुम्हारे आदर्श
ऊंचे आकाश
अनछुए पर्वत शिखर
और / ऊर्ध्वमुखी वृक्ष
मुझसे
मेरी झील छीनते हैं
मेरे अन्तस को
तिल-तिल लीलते हैं

मानसून

मानसून
अभी अभी जगा है
कुम्भकरणी नींद से
खाड़ी में
धो रहा है
हाथ मुँह
और
हवाख़ोरी के लिये
रहा है
अपने ही आंगन में
घूम

नाशपातियों के
चुन रहा है फूल

और बटोर रहा है
आंचल में
धुंध के गुब्बारे

अभी अभी तो
मुंह हाथ धोया है
उसने
हल्की-सी
थिरकन से
सहस्रों मील
शिमला के पहाड़
सहम गए हैं

अभी तो
वस्त्र नहीं सिले
न छतरी
ख़रीदी है
अभी तो
रबड़ के जूते
नहीं आए
बाज़ार में
और अभी से
बादल
मचाने लगे शोर
सूरज ने ढांप लिया मुंह
शाम गहराने लगी
दबने लगी भोर
और चीड़वनों पर
छा गई उदासी
पंछियों ने
अभी नहीं
बनाए नीड़
मानसून की
पहली खबर
टूट गया सबर
शिमले का

बंटवारा

जब तुम
नहीं थे
तो लगता था—
सारा आकाश
मेरा है
सारा सूरज
सारा चाँद
सितारे और धरती
सब कुछ मेरा है
पर जब तुम आ गए
सब कुछ बंटने लगा—
आँगन से
दहलीज़ तक की जगह
आम के पेड़
और
अनार के पौधे
मोगरा और गुलाब
मरुस्थल की धूप
पीपल की छाँव
बुज़ुर्गों के आशीर्वाद
पारस्परिक संवाद
घर और बाहिर
रसोई के बर्तन
और
ओढ़ने के वस्त्र
जब
सब कुछ
बंट ही गया—
तो
आओ
सूरज भी
बाँट ले
आधा-आधा।

[रा. कन्या महाविद्यालय शिमला-171001]

बहस

जन-सम्प्रेषण और साहित्य का सिमटता संसार

□ देवेन्द्र इस्सर

किसी सुबह हम जागें और खबर मिले कि होमर, कालिदास, फिरदौसी, शेक्सपीयर, गालिब, जयशंकर प्रसाद आदि की कृतियां किसी भूकंप या आग में नष्ट हो गई हैं तो शायद कुछ 'सनकी' लोगों को छोड़कर किसी को गम नहीं होगा कि कोई दुखद मानवीय दुर्घटना हो गई है। समाचार पत्रों में भूकंप अथवा आग की खबर और किसी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या राजनेता का संवेदना संदेश अवश्य छप जाएगा।

साहित्य की जरूरत किसी को भी नहीं। नाई, धोबी, किसान, मजदूर, अभियन्ता, सरकारी कर्मचारी, सैनिक, सिपाही, डाक्टर, रिक्शा वाला, राजनीतिज्ञ—किसी के लिए मेघदूत, हैमलेट, शाहनामा, ओडीसी, दीवाने-गालिब या कामायनी की जरूरत नहीं। सब लोग अपने-अपने क्षेत्र में इनके बगैर काम कर सकते हैं। जीवन में सफललता प्राप्त कर सकते हैं और सुख-सुविधा की ज़िंदगी बसर कर सकते हैं।

साहित्य जीवन की महत्वपूर्ण समस्या नहीं। सामान्य लोगों के लिए जिनमें अभिजात वर्ग भी शामिल है—धनी-निर्धन, मध्य वर्ग, शिक्षित-अशिक्षित, युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष किसी के लिए भी साहित्य का कोई महत्व नहीं। शायद कुछ लेखकों को छोड़कर साहित्य किसी को ख्याति, पद-प्रतिष्ठा, धन, लोकप्रियता, सुख, सुविधाएं कुछ भी नहीं दे सकता जब तक कि लेखक किसी समृद्ध, शक्तिशाली व्यवस्था से संयुक्त न हो जाए या साहित्य को मनोरंजन की सतह पर न ले जाए। यही कारण है कि लेखक और जनसाधारण में प्राय: एक सामाजिक और मानसिक फासला रहा है। स्पष्ट है जब किसी राष्ट्र की संस्कृति, क्रिकेट, फिल्म और टेलिवीजन तक सीमित हो जाएगी तो परिस्थिति इससे बेहतर नहीं हो सकती है।

लेखक और कलाकार सामान्य लोगों से यदि श्रेष्ठ नहीं तो भिन्न अवश्य समझे जाते हैं। लेखक और जनता के बीच एक मानसिक फासले के बावजूद लोगों के मस्तिष्क में उनकी सृजनात्मक हैसियत के साथ-साथ उनकी एक रूमानी छवि भी होती है कि वे समाज के प्रबुद्ध और संवेदनशील व्यक्ति हैं जिसके कारण साहित्य और कला को अपने युग की संस्कृति का दर्पण माना जाता है। सामन्ती युग में इन्हें राजाओं, सामन्तों और अभिजात वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। इन कुलीन लोगों के पास धन था, शिक्षा थी, अवकाश था और वे रसज्ञ और कला पारखी समझे जाते थे। जन संचार के आधुनिक माध्यमों से पूर्व लेखक और कलाकार चेतन या अवचेतन तौर पर प्राय: अपने संरक्षकों की मानसिकता से ही प्रभावित होते थे। लिहाजा उनके चिन्तन और

कृतियों पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। साहित्य की विषयवस्तु ही नहीं बल्कि इसकी शैली और रूप भी इनसे प्रभावित होते थे।

आधुनिक युग में जन-संचार के माध्यमों की लोकप्रियता के कारण संस्कृति दरबारों और महलों की दीवारों से बाहर निकल कर साधारण लोगों के घरों में प्रवेश कर रही है। जनता की चेतना के साथ उनकी सामाजिक हैसियत में भी परिवर्तन आया है। अब 'जनता' भी समाज में शामिल हो रही है। इससे पूर्व समाज का अर्थ था विशिष्ट अभिजात वर्ग। इस वर्ग के साहित्य और कला को जहां आधुनिकता के दबाव से जूझना पड़ा है वहां इसे जनता की नई उभरती हुई संस्कृति की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। लोक संस्कृति और साहित्यिक विरसे ने भी इसके प्रभाव को सीमित करने में कोई कम भूमिका नहीं निभाई। जब जन-संचार के माध्यमों का प्रसार होने लगा और जनता को साहित्यिक एवं कला कृतियां उपलब्ध होने लगीं तो लोकप्रिय संस्कृति का प्रचार तेजी से होने लगा। लोकप्रिय संस्कृति का शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—सामान्य, सरल, सुबोध, साधारण, जनप्रिय, सतही, निकृष्ट आदि। यह इस पर निर्भर है कि हम लोकप्रिय संस्कृति के प्रति कौन सा रवैया अपना रहे हैं।

लेकिन साहित्यकार और कलाकार, चिन्तक और दार्शनिक, बुद्धिजीवी और अभिजात वर्ग और कुछ मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री लोकप्रिय संस्कृति से बड़े परेशान हैं। उन्होंने प्रायः इस संशय को व्यक्त किया है कि कला और साहित्य के उच्च मूल्यों का ह्रास हो रहा है। ललित कलाएं भ्रष्ट हो रही हैं। साहित्य और कला के पाठकों, दर्शकों अथवा श्रोताओं का दायरा सिमट कर बहुत ही सीमित होता जा रहा है। इसलिए आज जीवन के संबंध में मूल और महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं पूछे जा रहे और न ही उनके उत्तरों की गंभीरता से तलाश की जा रही है। शिक्षा का व्यापक प्रसार भी सौन्दर्य अभिरुचि को परिष्कृत करने में पूरी तरह यदि असफल नहीं तो प्रभावहीन अवश्य ही सिद्ध हुआ है। इसलिए शिक्षा भी साहित्य और संस्कृति की परवरिश में सहायक सिद्ध नहीं हो रही है और न ही मनुष्य की संवेदना को गहन एवं सक्रिय बना रही है। एक जमाने में यह धारणा आम थी कि लोगों में शिक्षा का प्रसार हमारे सांस्कृतिक दारिद्रय को दूर कर देगा। यदि शिक्षा आम हो जाए तो संस्कृति का विकास और साहित्यिक मूल्यों का प्रसार संभव हो सकता है। लेकिन शिक्षा के व्यापक प्रसार से यह आशा भी पूरी होती दिखाई नहीं दे रही।

यह सही है कि अब अधिक लोग पुस्तकें और पत्रिकाएं पढ़ते हैं। लेकिन क्या यह सौन्दर्यानुभूति या आध्यात्मिक तुष्टि के लिए है या मनोरंजन और विलास के लिए? मानसिक दबाव को दूर करने या समय बिताने और 'नींद' लाने के लिए। इनमें साहित्यिक पुस्तकें या पत्रिकाएं बहुत ही कम होती हैं। विज्ञान, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में सस्ती पुस्तकें भी प्रकाशित हो रहीं हैं, लेकिन रुचि का परिष्कार नहीं हो रहा। रिचर्ड होंगर्ड ने अपनी पुस्तक 'द यूजिज आफ लिटरेसी' में इस समस्या का गहन वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसने लिखा है कि यह धारणा गलत सिद्ध हुई है कि जो लोग अर्थिक विषमता के कारण सौन्दर्यानुभूति से वंचित रह जाते हैं शिक्षा उनके लिए ऐसे अवसर उपलब्ध करेगी जिनसे वे साहित्यिक अभिरुचि की तुष्टि कर सकें। लेकिन यदि आज हम जन-साधारण और सुसंस्कृत लोगों की भाषा का तनिक गौर से अध्ययन करें तो ऐसा मालूम होगा जैसे वह बिगड़े हुए शहरी लोगों की भाषा है। इस प्रकार जहां एक ओर लोकप्रिय संस्कृति के विकास के लिए सामाजिक और तकनीकी

वातावरण तैयार हो रहा है तो वहां दूसरी ओर उसके विरुद्ध बौद्धिक परिवेश भी विस्तृत हो रहा है।

आखिर लोकप्रिय संस्कृति के विरुद्ध दायर केस के मूल तर्क क्या हैं ?

1. प्रत्येक समाज में कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जिनकी रुचि परिष्कृत होती है या जिन में साहित्य और कला की रचनात्मक प्रतिभा होती है। ऐसे लोग एक विशिष्ट मिज़ाज के होते हैं और वे साहित्य और कला के सृजन के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करते हैं। शिक्षा के प्रसार से यह आवश्यक नहीं कि यह दायरा विस्तृत हो जायेगा। सृजनात्मक शक्ति और कला की उपज हर किसी को नसीब नहीं होती और न ही हर किसी को साहित्यिक परख और उसके मूल्यांकन और उससे रस लेने की क्षमता ही प्राप्त होती है। मानसिक तौर पर अवयस्क लोग सृजन के मूल्यों से अलग होकर एक ऐसी सभ्यता को सीने से लगाये हुये हैं जो तुच्छ और भ्रष्ट हो चुकी है। क्योंकि जब प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति के गुण-अवगुण, रवैये और चरित्र का पैमाना अधिक धन है तो भौतिक और सौन्दर्यात्मक मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं। और यह सब कुछ हमारे जीवन में इतना गहरा पैठ चुका है कि इसके बाहर का वातावरण हमें अजनबी, अर्थहीन और अरुचिकर लगता है। यदि किसी क्षण यह सब कुछ रुक जाये तो ऐसा महसूस होगा कि हमारे पास अपने मन और आत्मा में कुछ नहीं जो हमारे जीवन को भर सके, जीवित रख सके—सिवाय एक व्यापक भयानक शून्य के, भीतर भी और बाहर भी।

2. जन संचार और लोकप्रिय संस्कृति में मौलिकता नहीं होती (यहां जन संचार माध्यम और लोकप्रिय संस्कृति को समान अर्थ में इस्तेमाल किया गया है यद्यपि कम्यूनीकेशन के सिद्धांतों के अनुसार यह ठीक नहीं)। चिन्तन और अभिव्यक्ति में कोई विविधता नहीं होती, इनमें सामूहिकता और सामान्यता का समावेश अधिक होता है। एकरूपता के कारण इसमें नवीनता, वैयक्तिकता और गहराई संभव नहीं। हम एक प्रकार के गाने सुनते हैं, एक ही तरह की फिल्में देखते हैं, एक ही किस्म की पत्रिकाएं पढ़ते हैं। प्रकट अथवा प्रच्छन्न प्रचार और विज्ञापन के कारण हमारी रुचि एक-समान होती जा रही है। हमारी निजी पसन्द और संवेदना धीरे-धीरे इसका शिकार बनकर या तो नष्ट हो रही है या अमल में नहीं आ पा रही और हम एक घातक निष्क्रियता का शिकार बन कर रह गये हैं। धारावाहिक नाटक जो दूरदर्शन पर प्रस्तुत किये जाते हैं वे कुछ बंधे-टिके फार्मूलों पर आधारित होते हैं। पात्र टाइप बन जाते हैं, कथानक और संवाद बार-बार दुहराये जाते हैं। यह 'सोप आपेरा' या 'सिटकाम' व्यावसायिक फिल्मों की तरह ही दर्शक को 'विवेक-शून्य रोबों' में बदल रहे हैं।

3. लोकप्रिय संस्कृति लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों के बजाय 'शोबिज़' के अदाकारों को महत्त्व देती है। यदि बुद्धिजीवी इन कार्यक्रमों में भाग लेते भी हैं तो वे भी एक प्रकार का रोल प्ले करते हैं। फिल्म और दूरदर्शन 'हीरो' को लोकप्रियता प्रदान करते हैं। हीरो कोई भी हो सकता है। फिल्म अभिनेता, राजनीतिज्ञ, अपराधी, छद्म घटनाएं, झूठे किस्से-कहानियां, झूठे आदमी मस्तिष्क पर हावी हो जाते है। यह युग उस हीरो का नहीं जो कोई विशेष महत्वपूर्ण कार्य करता है—मानवता और क्रान्ति के लिए शहीद हो जाता है या अपना समस्त जीवन अर्पित कर देता है। यदि कोई हीरो है तो मनोरंजन के संसार का कोई ग्लेमर ब्वाय या 'शोबिज़' का रसिया। जन-संचार के माध्यम किसी को भी हीरो बना सकते हैं। इसके लिए विशिष्ट प्रतिभा की ज़रूरत नहीं। संवेदनशीलता की नहीं, शरीर के आकर्षण की ज़रूरत है।

बुद्धि की नहीं, प्रदर्शन की जरूरत है। सांस्कृतिक पतन की एक निशानी यह भी है कि आज कोई विलक्षण व्यक्तित्व पैदा नहीं होता। सब साधारण व्यक्ति होते हैं। इसलिए यह दौर 'एण्टी हीरो' का दौर है जो हालत को अपने आदर्श के अनुकूल मोड़ने के बजाय स्वयं हालत के अनुरूप ढल जाते हैं।

4. कहा जाता है कि साहित्य और कला के विरुद्ध यदि सबसे बड़ा कोई अस्त्र प्रयोग में लाया गया है तो वह जन-संचार के माध्यम—फिल्म, रेडियो, दूरदर्शन और व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएं हैं। वैसे ये साहित्य के नाम पर बहुत कुछ प्रसारित-प्रकाशित करते रहते हैं। मास-मीडिया ने एक अनैतिक, असौंदर्यात्मक विलासपूर्ण, मनोरंजक साहित्य के प्रसार में बड़ी महत्व-पूर्ण भूमिका निभाई है। हम क्या खाएं, क्या पहनें तथा खरीदें, क्या सोचें—क्या देखें, किसका अनुकरण करें, किससे घृणा करें, क्या पसंद करें क्या नापसंद, क्या पढ़ें—यह सब कुछ मास-मीडिया तय करता है और यह सब कुछ मनोवैज्ञानिक तौर पर प्रच्छन्न और कई बार चेतन रूप से किया जाता है। इसका एक अध्ययन 'वान्स पेकर्ड' ने अपनी पुस्तक 'द हिड्डन पर्स्यु-एडर्स' में प्रस्तुत किया है। लोकप्रिय संस्कृति में, सेक्स, प्रेम, जीवन, मृत्यु, मनुष्य और सृष्टि, व्यक्ति और समाज की धारणाएं बदल गई हैं। भावात्मक और आध्यात्मिक जीवन से शून्य ये लोग वर्तमान समाज के ऐसे प्रवासी हैं जिनकी जड़ें नहीं, वे भीड़ या हुजूम से अलग नहीं रह सकते। साहित्यिक कृतियां जीर्ण रीति-रिवाजों और प्रचलित रूढ़ियों को चुनौती देती हैं। जिसका खतरा जनसंचार के माध्यम लेने के लिए तैयार नहीं क्योंकि उन्हें प्रत्येक वर्ग को प्रसन्न करना होता है। विशेषकर प्रतिष्ठित वर्ग, सत्ता-व्यवस्था और व्यवसायिक वर्ग को जो इन संचार-माध्यमों के स्वामी होते हैं या उन पर उनका नियंत्रण है या जिनसे उनको रकम या अनुदान मिलता है। यह सब कुछ होता है और इस प्रकार जनसंचार माध्यम यथा-स्थिति बनाये रखने में सहायता देते हैं। इन माध्यमों की पहुंच दूर-दूर तक फैले हुए क्षेत्रों, नगरों, गांवों और आदिवासी बस्तियों तक है। ये माध्यम उनको रोजमर्रा की परिस्थितियों को नजर-अंदाज करके इन्हें सर्कस का तमाशा पेश करता है।

5. लोकप्रिय संस्कृति लोगों का ध्यान उनकी जटिल और विषम समस्याओं से हटाकर सतही बातों की ओर ले जाती है और हर बात को सतही तौर पर प्रस्तुत करती है। समस्या का अध्ययन भी सतही और उनका समाधान भी सतही। इस प्रकार ये समस्याएं और भी उलझती चली जाती हैं, समाधान से बाहर होती चली जाती हैं। इसलिये जब तक किसी देश में कोई संकट की स्थिति उत्पन्न नहीं होती जनता सक्रिय नहीं होती। बुद्धिजीवी लोगों का ध्यान उनकी रोजमर्रा की समस्याओं की ओर दिलाते हैं। लेकिन जनसंचार के माध्यमों से प्रभावित लोग यथार्थ से पलायन करते हैं। वे हक़ीक़त को सहन नहीं कर सकते। वर्तमान युग ने एक ऐसे आध्यात्मिक शून्य को जन्म दिया है जिसमें भोग-विलास, अर्धविकसित भावनाओं और प्रवृत्तियों की निर्बाध तुष्टि को ही जीवन का ध्येय समझा जाने लगा है। मूलतः यह रवैया एक भौतिक, विलासपूर्ण, ऐश्वर्ययुक्त संस्कृति का पोषण करता है जो न केवल साहित्य और कला के मूल्यों और आध्यात्मिक जीवन को नकारता है बल्कि उसे तिरस्कार की दृष्टि से भी देखता है। वास्तव में लोकप्रिय संस्कृति नवयुवकों, नव-धनाढ्यों और अर्ध-शिक्षित लोगों की संस्कृति बनती जा रही है।

6. लोकप्रिय संस्कृति में बहुमत को अल्पमत के चिन्तन पर तरजीह दी जाती है। वह

लोगों के मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाती बल्कि इसके विपरीत यह विश्वास दिलाने का प्रयास करती है कि अन्त में सब कुछ ठीक हो जायेगा। अपने मस्तिष्क, विवेक और आत्मा पर बोझ डालने की ज़रूरत नहीं।

7. फिल्मों और लोकप्रिय पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में घटनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि जनसाधारण भ्रष्टाचार, अपराध, हिंसा, दमन, अन्याय और सक्रिय जीवन के अभ्यस्त हो जाते हैं। वे प्रतिकार नहीं करते। यथार्थ से जूझने का समस्त बल और संकल्प शिथिल हो जाता है जिसमें प्रवेश करने का रास्ता तो उन्हें मिल जाता है लेकिन उससे बाहर निकलने के तमाम रास्ते बन्द हो चुके होते हैं। ज्ञान, साहित्य और कला अनावश्यक हो जाते हैं। रुचि और पसंद में एकरूपता पैदा हो जाती है। जन संचार माध्यम उन लोगों के आक्रमण का अस्त्र बन जाते हैं जो धनसंग्रह, प्रतिष्ठा या लोकप्रियता के लिए इसका प्रयोग करते हैं और अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को व्यवसाय के लिए इस्तेमाल करते हैं। संचार के साधन इतने व्यापक और विस्तृत हो जाते हैं कि लोग बिरादरी और निजी रिश्तों से कट जाते हैं। यहां तक कि अपने आप से भी।

8. यहां विख्यात मनोचिकित्सक डेविड रोनल्ड लेंग (जिसे 'पागलों का मसीहा' कहा जाता है और जिसे 'एण्टी सायकेट्री' के प्रवर्तक के रूप में याद किया जाता है) का उल्लेख आवश्यक है—एक तेरह वर्षीय लड़की के माता-पिता ने लेंग से शिकायत की कि वह उनके हाथों से निकली जा रही है। वह असामान्य व्यवहार करती है। क्योंकि जब हम टेलीविजन देखते हैं तो वह अपने कमरे में जाकर खाली दीवार पर नजरें गाड़ देती है। लेंग ने कहा कि मेरा ख्याल है कि लड़की इतनी देर तक दीवार नहीं देखती जितनी देर तक उसके माता-पिता टेलीविजन स्क्रीन देखते हैं। उन्हें लड़की के दीवार देखने पर आपत्ति है अपने टेलीविजन देखने पर नहीं। यह महज़ अपनी-अपनी पसंद है। रोगी कौन है—वह लड़की जो बगैर कुछ बोले खाली दीवार देखती है या उसके मां-बाप जो घंटों टी० वी० स्क्रीन पर दृष्टि जमाये रहते हैं। ये निष्क्रिय-तौर पर परछाइयां देखते हैं जबकि लड़की खाली दीवार पर चित्रकारी की कल्पनाशील और सृजनात्मक प्रक्रिया से गुज़रती है।

9. 'सोप आपेराज' की यही विशेषता है कि वह जीवन की समस्त समस्याएं बड़ी सरलता से सुलझा देते हैं। व्यक्ति और परिवार जो कठिनाइयों में जकड़े जाते हैं किसी न किसी तरह इन कठिनाइयों का कोई न कोई समाधान ढूंढ़ ही निकालते हैं जो रोजमर्रा की जिन्दगी में प्राय: संभव नहीं होता। क्योंकि कहानी को जारी रखना होता है इसलिये नई कठिनाइयां उत्पन्न होती रहती हैं और हल होती रहती हैं। निर्माता यह दावा करते हैं कि वे अपने धारावाहिकों की विषयवस्तु जनसाधारण की रोजमर्रा की जिन्दगी से लेते हैं और उसे एक ऐसी सामान्य और व्यापक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करते हैं जिससे अधिक से अधिक लोग उससे लाभ उठा सकें। वे लोगों को पलायन की ओर नहीं ले जाते बल्कि उन्हें सोचने के लिए मानसिक खुराक देते हैं। 'सिटकाम' (सिचुएशन कामेडी) के निर्माता यह दावा करते हैं कि वे लोगों को उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी की तलखियों से दूर फुर्सत और मनोरंजन के कुछ क्षण उपलब्ध कराते हैं जो उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बेहद जरूरी है।

10. जनसंचार माध्यम यदि साहित्य को भी प्रस्तुत करता है तो इस प्रकार कि उससे साहित्य लुप्त हो जाता है। क्या यह संभव है कि साहित्यिक मूल्यों को भ्रष्ट किये बगैर उसे

लोगों तक पहुंचाया जा सके। क्या इससे साहित्य का मय्यार इतना नहीं गिर जाएगा कि उसका मूल्यांकन करना भी मुश्किल हो जायेगा। क्या जनसंचार के युग में साहित्यिक गतिरोध या पतन को रोका जा सकता है?

11. मास उत्पादन के कारण लोकप्रिय संस्कृति उत्कृष्टता के मय्यार को कायम नहीं रख सकती। उसके सामने श्रोताओं/दर्शकों/पाठकों का एक विशाल समूह होता है न कि मूल्य, मय्यार और सुरुचि। लोकप्रिय माध्यम संस्कृति के उत्कृष्ट मूल्यों पर आधारित विषयवस्तु को लेकर उसे लोकप्रिय बनाने के लिए उसके तत्व, मूल्य और कलात्मक गुणों को खत्म कर देते हैं। यहां तक कि उन लोगों को भी लोकप्रिय संस्कृति के निर्माण के लिए इस्तेमाल किया जाता है जिनमें सृजनात्मक प्रतिभा और मौलिकता होती है। धीरे-धीरे यह सब कुछ एक खास ढांचे में ढल जाता है। हर्बर्ट मारकूस के विचार में मासमीडिया सत्तालोलूप राजनीतिज्ञों और तानाशाहों के हाथ में एक घातक अस्त्र है जिसका प्रयोग लोगों के दमन और शोषण के लिए किया जाता है। मारकूस ने लोकप्रिय संस्कृति को सत्ता और पूंजीवाद का फैलाया हुआ जाल कहा है जिसे परिवर्तन और क्रांति के विरुद्ध दमन और हिंसा के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। मास-मीडिया, टेक्नालॉजी और लोकप्रिय संस्कृति लोगों के लिये विरेचन प्रक्रिया है जिसके कारण प्रोटेस्ट का जज्बा कमज़ोर पड़ जाता है। यह एक नशा है जो उन पर हावी हो जाता है और उन्हें तकनीक की प्रक्रिया से दूर रखता है। जिन्दगी की हकीकत से दूर उन्हें सपनों के संसार में ले जाता है।

12. मासमीडिया सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक और भावनात्मक तौर पर हानिकारक है। वे लोग जो मानसिक तौर पर 'विघटित' होते हैं मासमीडिया उनकी तुष्टि का साधन बनता है। उन्हें अणु में बदल देता है। वह भी एक नशा है जिससे मुक्ति संभव नहीं; जो मनुष्य की पहचान को ही नहीं उनकी आत्मिक शक्ति को भी नष्ट कर देता है।

...और यह सूची बहुत लम्बी है।

मासमीडिया, समाज और संस्कृति के आलोचकों में वे बुद्धिजीवी अधिक सक्रिय हैं जो नई टेक्नालॉजी और इलेक्ट्रानिक्स को मनुष्य के अस्तित्व और उसके स्वाभाविक विकास के लिए घातक समझते हैं। स्पेनी समाजवेत्ता खोसे ओर्तेगा इ गासेत् ने 1932 में प्रकाशित अपनी विख्यात पुस्तक 'रिवोल्ट आफ द मासेस' में यह विचार व्यक्त किया है कि आधुनिक युग में जिस संस्कृति का पोषण हो रहा है उसमें वैयक्तिक विचार, अनुभूति और रुचि को एक सामूहिक ढांचे में ढाला जा रहा है। मनुष्य की आत्मा और संस्कृति को भौतिक जगत का शिकार बनाया जा रहा है। जनता अपनी महान विरासत से विमुख होती जा रही है। वह मासमीडिया टेक्नॉलोजी और संगठन की परस्पर प्रक्रिया के अन्तर्गत एकरूपता और रेजमन्टेशन का शिकार बनती जा रही है। इसलिए संस्कृति और कला तथा जीवन की सुख-सुविधाएं जो कल तक एक विशिष्ट सम्पन्न वर्ग तक सीमित थीं अब सामान्य होती जा रही हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में उनकी वैयक्तिक रचनात्मक भूमिका भी खत्म होती जा रही है। इन हालत में समाज में तनाव और कशमश की स्थिति पैदा हो गई है। जिसके कारण हिंसात्मक शक्तियों को बल मिल रहा है और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता एक गहरे संकट का शिकार होकर विघटन और विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। याद रहे कि इस पुस्तक को प्रकाशित हुये अर्ध-शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है। और इसके प्रकाशन के अगले दस-पन्द्रह वर्षों तक टेक्नॉलोजी पर

निरन्तर प्रहार किये गये। गासेत के अनुसार आज लोगों को अधिक स्वतंत्रता, शिक्षा और अवकाश उपलबध हैं। लेकिन इसका सही उपयोग नहीं हो सका। आज भी लोग यीशु पर बारबस को तरजीह देते हैं।

बुद्धिजीवी बड़ी दुविधा की हालत में हैं। एक ओर तो वे प्रजातंत्र और संस्कृति के विस्तार की बात करते हैं तो दूसरी ओर वे प्रजातंत्र को जिसे जनता पसन्द करती है निकृष्ट घोषित करते हैं, यानी लोकप्रिय संस्कृति की भर्त्सना, जो प्रजातंत्र और शिक्षा के प्रचार का तकाज़ा है। लेकिन...

ये जनसंचार के माध्यम ही हैं जिन्होंने साहित्य और कला को सामान्य जन तक पहुंचाया है, राजदरबारों, महलों और मन्दिरों से निकालकर नगरों के गली कूचों, गांवों और दूरदराज क्षेत्रों तक लोगों के घर-आगन में पहुंचाया है। चाहे वह कैलेण्डर हो या कैसेट, टेलीविजन हो या रेडियो या फिल्म। साहित्य और कला का एकाधिपत्य और आभिजातीय स्वामित्व खत्म हो रहा है। जो लोग वैयक्तिक अभिरुचि और सृजनात्मक प्रतिभा की बात करते हैं वे भूल जाते हैं कि सभ्यता, संस्कृति, शास्त्रीय और लोक संगीत, नृत्य, साहित्य एवं कला के पतन को टेक्नॉलोजी द्वारा ही रोका जा सकता है। मासमीडिया की अवहेलना या भर्त्सना करना जनता को साहित्य और कला से वंचित रखना है। आज रेडियो, ट्रांजिस्टर, टी०वी०, उपग्रह, कैसिट, चलते-फिरते सिनेमाघर, वीडियो, पेपर बैक्स आदि द्वारा टैगोर, प्रेमचन्द, गालिब, रविशंकर, ओंकारनाथ ठाकुर, बड़े गुलाम अलीखां, सुब्बलक्ष्मी, हुसैन, बेगम अख्तर—कितने ही नाम हैं जो देश और दुनिया के कोने-कोने में पहुंच चुके हैं। क्या यह सांस्कृतिक पतन है या सांस्कृतिक विस्तार? लोकप्रिय संस्कृति ने लोगों को गुमनामी और अवरोध से निकाल कर उनकी रचनात्मक शक्ति को सक्रिय किया है। उन्हें अपनी पहचान और दृष्टि दी है और अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया है। यह आवश्यक नहीं कि संख्या या मात्रा में वृद्धि का परिणाम मय्यार में कमी ही हो। मासमीडिया और टेक्नॉलोजी के कारण जो तबदीली आई है वह महज सतही या अस्थायी नहीं। यह हकीकत है, जिसे नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता और न ही लोकप्रिय संस्कृति की बाढ़ को रोका जा सकता है। साहित्य और कला अभिजात-वर्ग के सीमित परिवेश से बाहर निकल कर समाज में प्रविष्ट होकर आम लोगों के पास पहुंच रही हैं। प्रत्येक कलाकृति का सामाजिक पहलू होता है। उस कृति की रचना-प्रक्रिया कितनी ही निजी क्यों न हो जब उसकी नुमाइश हो जाती है या कोई रचना छपकर सामने आती है, संगीत समारोह होता है या चित्रों की प्रदर्शनी लगती है या पुस्तक को प्रकाशन या मास-मीडिया द्वारा प्रसारित किया जाता है तो वह कलाकृति सामाजिक रूप धारण कर लेती है। जब वह अपने निजी मित्रों, प्रशंसकों या संरक्षकों की महफिल से बाहर आती है, तो उसको प्रस्तुत करने के लिए कई अन्य लोगों, विशेषज्ञों, संगठन और राशि की आवश्यकता होती है।

यह सोचना कि आम लोग मंदबुद्धि होते हैं या उनमें सौंदर्याभिरुचि नहीं होती एक सामंती और प्रतिगामी विचार पद्धति है। संस्कृति के क्षेत्र में सूचना, ज्ञान, मनोरंजन और सौंदर्य तुष्टि, कई बातें शामिल हैं। हमें देखना यह है कि किसकी क्या भूमिका है? लोगों की रुचि में विविधता होती है, इसलिए किसी एक वर्ग की अभिरुचि को उत्कृष्ट या परिष्कृत मानकर किसी अन्य को तुच्छ या निकृष्ट घोषित नहीं किया जा सकता। और न ही किसी एक सांस्कृतिक मूल्य को कसौटी मानकर दूसरे मूल्यों को नकारा जा सकता है। प्रत्येक संस्कृति में कई स्वर

होते हैं। उसके कई पक्ष होते हैं। यदि हम अभिजात वर्ग की संस्कृति को ही संस्कृति की चरम सीमा समझते हैं तो यह संस्कृति लोगों के जीवन का अंग कभी भी नहीं बन सकती। परिणाम यह होगा कि समाज में हमेशा सांस्कृतिक अलगाव और तनाव रहेगा। केवल शिक्षा के प्रचार से ही उत्कृष्ट मूल्यों का विकास नहीं हो सकता। जिस माससोसाइटी में हम रह रहे हैं उसमें किसी कालिदास, फिरदोसी, शेक्सपीयर या गालिब की परिकल्पना संभव नहीं। आज सृजनात्मक शक्ति भी समाज के विभिन्न वर्गों में प्रवेश कर चुकी है। यह सब कुछ सामाजिक परिवर्तन जनसंचार के माध्यमों और लोकप्रिय संस्कृति के कारण ही संभव हो सका है। अभिजातीय संस्कृति के स्थान पर मध्यवर्ग की संस्कृति अधिक विस्तृत हो रही है जो लोकप्रिय संस्कृति के अधिक निकट है। और अभिजातीय संस्कृति में वैयक्तिक संवेदना, सौंदर्याभिरुचि और बौद्धिक उपज अधिक प्रबल हैं। लोकप्रिय संस्कृति का केन्द्र दर्शक, श्रोता और पाठक हैं, जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि, वर्ग-चेतना, मूल्यों और संवेदनाओं को मद्देनजर रखकर कृति प्रस्तुत की जाती है। लोकप्रिय संस्कृति बहुसंख्यक के सौन्दर्यदर्शन, रुचि और जरूरतों को पूरा करती है। जरूरी नहीं कि यह संस्कृति व्यावसायिक ही हो। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि इस बात का निर्णय वह स्वयं करे कि उसे किस प्रकार की संस्कृति चाहिये। क्या साधारण लोगों को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वे भी सांस्कृतिक विकास के भागीदार हो सकें? वे किसी भी तरह अभिजातीय संस्कृति में अवरोध का कारण नहीं। यदि यह कहा जाये कि रचनात्मक साहित्य के सृजक स्वयं ही सामान्य संस्कृति की लोकप्रियता और लाभ के कारण रचनात्मक साहित्य का त्याग कर रहे हैं तो अधिक सही है। वे जनता की अल्पबुद्धि, परिस्थितियों और समय को कोसते हैं। यह प्रतिरक्षात्मक और दंभपूर्ण व्यवहार है।

आज का युग सांस्कृतिक जनतंत्र और बहुवाद का युग है। उत्कृष्ट संस्कृति के समर्थक चन्द लोगों को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वे बहुमत की संस्कृति के बारे में अपनी राय और पसंद को लोगों पर लादें। लोकप्रिय संस्कृति आम लोगों के लिए हानिकारक नहीं। लोकप्रिय संस्कृति पूरे समाज में फैले हुए संप्रेषण का बहुत ही कम लेकिन महत्वपूर्ण भाग है। समाज में जारी दूसरे प्रभावों को नज़र-अंदाज नहीं किया जा सकता। एक दूसरी पुस्तक 'रिवोल्ट अगेन्स्ट द मासेस' में एवान वाइल्डावस्की नई परिस्थितियों पर अपने विचार व्यक्य करते हुए लिखता है—"नया अभिजात वर्ग और तथाकथित क्रांतिकारी लोग और सांस्कृतिक प्रदूषण के विरोधी संस्कृति को उन लोगों तक नहीं ले जाने देना चाहते जो अभी तक संस्कृति से वंचित रखे गये हैं। नई संस्कृति ने सामंती प्रथा के मुकाबले में मध्य-वर्ग की शक्ति को बढ़ाया है। जनसंचार के प्रभाव को कम या खत्म नहीं किया जा सकता। यह हमारे युग की सभ्यता का अभिन्न अंग है। शास्त्रीय संगीत, साहित्य और कला को लोकप्रिय संस्कृति से हमेशा खतरा रहा है। लेकिन हम इस बात को भूल नहीं सकते कि शास्त्रीय संगीत, साहित्य या कला पूरे समाज की संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकते। यह कुछ वर्गों तक ही सीमित रहेंगे। जैसे-जैसे लोग समाज के सक्रिय सदस्य बनते जायेंगे लोकप्रिय संस्कृति की मांग और इसका प्रसार बढ़ता जायेगा। शास्त्रीय संगीत, साहित्य और कला पर इसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यदि लोगों की बहुसंख्या सौन्दर्यात्मक कृतियों में रस नहीं लेती तो क्या इन लोगों को हम संस्कृति के दायरे से बाहर कर दें? समाज में रंगारंग प्रवृत्तियों और सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्तियों के कारण लोगों की सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए लोकप्रिय संस्कृति

रहेगी। लोकप्रिय संस्कृति के बारे में हमारा रवैया विरोध का नहीं सहयोग का है। हम स्थिति के अनुसार इसके बारे में कई रवैये अपना सकते हैं—लोकप्रिय संस्कृति को रद्द या अस्वीकार कर देना, स्वीकार करना, बेहतर बनाना, बदल देना या इसके बारे में लोगों को सचेत करना लेकिन किसी भी सूरत में हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हमें लोकप्रिय संस्कृति के किस भाग के बारे में कौन-सा रवैया अपनाना है न कि समस्त लोकप्रिय संस्कृति को ही नकार देना। लोकप्रिय संस्कृति उस शून्य को भरती है जिसे अभिजात संस्कृति ने पैदा किया है। इसलिये उसकी बढ़ती हुई बाढ़ का यह अभिप्राय: नहीं कि वह अभिजात संक्रृति पर हावी होना चाहती है या उसका स्थान प्राप्त करना चाहती है। बल्कि इसका अर्थ यह है कि वह संस्कृति से वंचित लोगों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहती है। मास संस्कृति का मय्यार कम हो सकता है लेकिन वह समाज और सभ्यता के लिए खतरा नहीं और फिर वह इतनी 'तुच्छ' भी नहीं जितना कि हम इसे सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं। जब संस्कृति का प्रचार जनसंचार माध्यमों द्वारा होता है तो वह निजी सृजनात्मक प्रक्रिया से आगे निकलकर सम्मिलित सामाजिक प्रक्रिया बन जाती है। इस कारण प्राथमिक रचना में कुछ नये तत्व भी शामिल हो जाते हैं। कुछ में तबदीली आ जाती है, कुछ कम हो जाते हैं। जब कोई साहित्यिक रचना किसी विशेष माध्यम द्वारा प्रसारित होती है तो उसमें उस माध्यम के तत्त्व भी शामिल हो जाते हैं। इसीलिए मार्शल मैक्लुहान, जो इस युग के इलेक्ट्रानिक मसीहा माने गये हैं, ने कहा है—'मीडियम इज द मैसेज'—अर्थात् माध्मय ही सन्देश है। जनसंचार के माध्यम अवकाश के क्षणों की रिक्तता को भरते हैं। हम अवकाश का क्या इस्तेमाल करते हैं, इससे हमारी जीवन शैली निश्चित होती है। जनसंचार माध्यमों के महत्त्व और प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता और न इससे पलायन ही सम्भव है। नई पीढ़ी जिसकी परवरिश इलेक्ट्रानिक मीडिया के युग में हुई है लोकप्रिय संस्कृति की सबसे बड़ी सरपरस्त है। मास मीडिया के प्रभाव को रोका नहीं जा सकता चाहे हम उसे अपनी जिन्दगी और समाज को बेहतर बनाने के लिये इस्तेमाल में लायें या धन, मनोरंजन, सस्तेपन, विज्ञापन या प्रचार के लिये। यदि हम सही तौर पर लोकप्रिय संस्कृति की ओर ध्यान दें जिसकी जड़ें हमारी भूमि और सभ्यता में गहरी हैं, जो सामयिक समस्याओं को अपने अन्दर समेटती है और भविष्य की ओर संकेत करती है तो हमें लोकप्रिय संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रशिक्षण देना पड़ेगा, उसी तरह जैसा कि साहित्य की शिक्षा हमारे पाठ्यक्रम में शामिल है। साहित्य और लोकप्रिय संस्कृति टकराव से नहीं, परस्पर सहयोग से ही नये युग की नयी मानसिकता का विकास कर सकते हैं।

श्री क्षेम की एक कविता का अंश है :

"जन की आंखों में ख्वाब रखना है;
आंधियों का जवाब रखना है।
झोंपड़ों में भी जिन्दगी गमके;
रोटियों पर गुलाब रखना है॥"

[बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058]

समीक्षा

अंधेरी सुरंग के दूसरे छोर पर

☐ सुन्दर लोहिया

अनिल राकेशी हिमाचल प्रदेश के उन कवियों में हैं जो एक लम्बे अरसे से कविताएं लिख रहे हैं और लम्बी खामोशी के बाद अपनी रचनाओं को पुस्तक का रूप दे पाये हैं। क्योंकि **'बोद्धिसत्व सुनें'** इनका पहला काव्य संग्रह है, अतः इसमें कवि की रचनायात्रा के अनेक पड़ाव एक साथ प्रकट हुए हैं। प्रयोगवादी कविताओं के दौर से लेकर समसामयिक काव्यधारा से जुड़ी अभिव्यक्तियाँ इस संग्रह में एक साथ मिलती हैं। पूरे काव्य संग्रह को तीन उपशीर्षकों में बांटा गया है। पहले उपशीर्षक के नाम पर संग्रह का नामकरण हुआ है। इसमें संकलित कविताओं में कवि प्रश्नातुर होकर कभी बोधिसत्त्व, कभी शंकराचार्य, नीत्शे और कामू के पास पहुंचता है। इन मनीषियों के पास जैसे आज की मानवीय विडम्बनाओं का कोई ऐसा उत्तर नहीं जिससे कवि सन्तुष्ट हो सके, इसलिए वह अपने समय और समाज पर तीखे व्यंग्य-प्रहार करता है। दूसरे खण्ड में कवि ने कुछ अयाचित प्रसंगों का उल्लेख किया है। इस खण्ड की कविताओं में रोमांटिकता और मांसलता है। कुछ निजी एवम् अंतरंग अनुभूतियों को राकेशी बड़ी रागात्मकता से प्रस्तुत करता है जैसे 'कांता के नाम' शीर्षक कविता में। तीसरे खण्ड की कविताएं समकालीन कविता की ओर यात्रा की शुरूआत है। ये कविताएं कवि के सामाजिक सरोकारों को ध्वनित करती हैं।

इस संग्रह की कविताओं का मूल स्वर व्यंग्य का है। राकेशी तीखा और तिलमिला देने वाला व्यंग्य करता है। इतना जरूर है कि यह व्यंग्य कविता की वस्तु और भावबोध के अनुरूप प्रकट हुआ है। लेकिन कई बार यह नंगा हो जाता है। ऐसा वहीं हुआ है जहां व्यंग्य को ढांपने वाला हास्य-लुप्त है। 'वोद्धिसत्त्व सुनें' और 'मदारी' कविता में व्यंग्य की धार बहुत आक्रामक है, लेकिन यही आक्रामकता कविता को नपुंसक होने से बचाती है और कवि के हाथ में अपने वक्त के खिलाफ एक ताकतवर हथियार बन जाती है। पहली ही कविता में कवि के तेवर पहचाने जा सकते हैं—

> **कुछ भी आश्चर्य नहीं/मृतप्राय भाइयों को रामभरोसे छोड़कर/द्यूत व्यसनी युद्धिष्ठर/अपनी प्यास बुझाने को सुरक्षित जलाशय/ढूंढ़ लेते हैं/वसिष्ठ और वाल्मीकि/वातानुकूलित चैम्बर में घुसते ही/ठकुरसुहाती के वागीश बन जाते हैं। (पृष्ठ 13)**

कई जगह यह आक्रामकता नाटकीयता और अतिनाटकीयता में बदल गई है या यों भी कह सकते हैं कि अतिनाटकीयता, आक्रामकता के परिणाम स्वरूप प्रकट हुई है। 'बेहूदानाटक' कविता की ये पंक्तियां देखिए—

मुल्ज़िम को एक मौका/और दिया जाता है/वह साबित करे/कि उसकी शिनाख्त/वही है जो उसका दाना है/वह नहीं जिसका उस पर इल्ज़ाम है/यानि जिस नाम से/सरकारी काग़ज़ों में वह/बदनाम है।

इसी अतिनाटकीयता के अन्दाज़ का एक तर्कसंगत परिणाम यह है कि राकेशी अपने आपको दूसरों से भिन्न सिद्ध करने की कोशिश में उलझ जाता है। उसका अहम् विस्फारित होकर अपने अस्वित्व की अलग पहचान बनाने पर उतर आता है—

मैं नहीं हूं। तमाशबीनों के मसखरे रेवड़ की/इकाई/बेहूदगी के किसी सैलाब में/गर्क होने से/मुझे इन्कार है।

(बेहूदा नाटक)

'मसखरे रेवड़ की इकाई' और ज़िन्दगी को बेहूदगी का सैलाब मानने वाली मानसिकता निश्चित तौर पर नई कविता के दौर में हावी अस्तित्ववादी जीवन दर्शन के प्रभाव को रेखांकित करती है।

वैसे राकेशी की दृष्टि में व्यापकता है। पुराण, इतिहास, दर्शनपद्धतियां और यहां तक कि आधुनिक दवाइयों के नाम इनकी कविताओं में मिलते हैं। लेकिन ऐसे उल्लेख कविता को कई बार नुकसान भी पहुंचाते हैं क्योंकि कविता का मूल कथ्य इन नामों के उल्लेख में दब जाता है। उसे उभारने के लिए पाठकों का बहुपठित और बहुश्रुत होना लाज़िमी बन जाता है। इस तरह कविता में सम्प्रेषण का संकट पैदा हो सकता है।

व्यंग्य के अलावा कवि में बिम्ब निर्माण की अद्भुत क्षमता है। इन कविताओं में प्रकृति के आकर्षक बिम्ब हैं जैसे 'सूरज को कन्धों पर उछालता शिखर' तो कहीं मानव जीवन के व्यंग्यात्मक किन्तु चाक्षुस बिम्ब भी हैं। जैसे—

मैं जानता था/धमाके का कोई सामान/नहीं है उसके पास/नागरिक सुरक्षा की प्रदर्शनी में रखे/बमों की तरह/सर्वथा निरापद था वह।

(उसकी वापसी)

'प्रदर्शनी में रखे बम की तरह निरापद' यह एक अछूता बिम्ब है। लेकिन इसी कविता की अंतिम पंक्तियों में जो बिम्ब दिया गया है वह चाक्षुस नहीं है, कल्पनाश्रित है, अतः दुर्बोध है—

तलवों और जुराबों के बीच छिपी/हुण्डी/उसके लेखे में/अनटूटे तिलस्म की बड़ी सच्चाई है।

हो सकता है कवि तलवों और जुराबों के बीच, डर के मारे जो पसीना आ गया है, उसकी बात कर रहा हो। यदि यह सच है तो पूरी कविता में इसका तालमेल नहीं बैठता। यही इसके दुर्बोध होने का कारण भी हो सकता है। दर-असल राकेशी जब किसी नितांत निजी अनुभव को बिम्ब में बांधने की कोशिश करता है तो वहां दुर्बोधता सिर उठाने लगती है। इसी तरह 'वर्षान्त के क्षितिज' कविता में—

सिन्दूरी फल/मैं तुमसे पूछता हूं/देखा है/कभी तुमने/दो खण्डित मूर्तियों के बीच/पिस

रही आत्मा का/डरावना सपना ।

इन पंक्तियों का सिन्दूरी फल, शिमला की बरसाती सांझ का दहकता हुआ सूर्य है, यह तो एकदम पकड़ में आता है क्योंकि चाक्षुर्स है । लेकिन 'दो खण्डित मूर्त्तियां' क्या हैं ? इसका संकेत कविता में नहीं मिलता ।

अपने परिवेश को राकेशी बड़ी आत्मीयता से रचता है । 'जाड़ों में माल पर' तथा 'कांता के नाम' कविताओं में शिमला की सर्दियों का वह क्रूर रूप प्रकट हुआ है जो प्राय: सैलानी आंखों से अनदेखा रह जाता है ।

तीसरे खण्ड में जो कविताएं शामिल की गई हैं, वे समकालीन काव्य बोध की कविताएं हैं । यहीं से कविता को एक हथियार बनाने की तैय्यारी की शुरूआत होती है । हालांकि यहां भी कुछ कविताओं में विदेशी शहरों के नाम गिनाने की हरकत छोड़ी नहीं गई और कुछ दुर्बोध बिम्ब रचने का शौक भी पूरा किया गया है। इसके बावजूद ये कविताएं सामाजिक सरोकार से इतनी जुड़ी हुई हैं कि इन्हें पढ़ना अपने आप में एक अनुभव बन जाता है । 'चमत्कार का इंतज़ार', 'मदारी', 'इतिहास की सुरंग से गुज़रते हुए' कविताएं इस संग्रह की श्रेष्ठ कविताएं हैं जो इसी खण्ड में शामिल हैं। इनमें सबसे बढ़िया बात यह है कि राकेशी अपनी अनुभूति को इतिहास पुरुषों और पुरा-कथाओं के माध्यम से व्यक्त नहीं करता और कल्पनाश्रित बिम्बों से भी काफी परहेज़ करता है। यहां कवि की दृष्टि बहुत-बहुत साफ है । उसे मानव की संघर्ष करने की ताक़त में पूरा विश्वास है । इतिहास को अंधेरी सुरंग मानते हुए भी, उसके दूसरे छोर पर उसे रोशनी दिखाई देती है । यह कवि का 'पाज़िटिव' सोच है ।

इस संग्रह को पढ़ते हुए मुझे यह लगा कि अनिल राकेशी अपना कविता-संसार रचता है और पाठकों को उसमें घसीट कर ले जाता है । अन्दर पहुंच कर जैसे कवि किसी दूसरे पाठक को बटोरने चला जाता है और पहला पाठक अपने आपको कविता के किसी तिलस्म में घिरा हुआ महसूस करता रहता है ।

कोई पूछ सकता है कि ऐसा क्यों होता है ? दर-असल राकेशी की कविताओं का सम्मोहन ही उसे वहां पहुंचाता है । पाठकों के लिए इस संग्रह का अध्ययन भले ही अंधेरी सुरंग की अनुभूति दे लेकिन उन्हें इसके दूसरे छोर की रोशनी का सम्बल रहता है ।

इस खण्ड की कविताओं में ही कवि का अपनी निजता के प्रति जो मोह था, वह भी टूटा है । वह सचेत हो चुका है कि आत्म का विस्फारित रूप जगत् को संकुचित करता है । वह इस सत्य को पहचान चुका है—

ये ही हैं वे मनहूस पल जब/फैलने लगता है आत्म/और सिकुड़ता लगता है जगत/आत्म-चिन्ता/इतिहास का संकट बनकर/सामने आ खड़ी होती है/'मैं' से शुरू होकर/मैं पर ही खत्म हो जाती है/प्रत्येक विश्वयात्रा/ज्ञान का अश्वमेध/अनुभव का चक्रवर्ती साम्राज्य ।

यही रोशनी है जो अंधेरी सुरंग की दूसरी तरफ कवि का इन्तज़ार कर रही है ।

□

बोधिसत्व सुनें : (कविता संग्रह) अनिल राकेशी, ऋषभ चरण जैन एवं संतति, दरियागंज, नई दिल्ली-2, मूल्य : 30 रुपये ।

नयी भाषा की तलाश और बहुजीवन की छवियां

□ रेवती रमण

कविता में वर्ण्य-विषय की विविधता कई बार भाषा के पारम्परिक आग्रह के खिलाफ शब्द की नयी दुनिया में कवि को प्रवेश करने की साहस-भरी चुनौती देती है। तब, निश्चयात्मक रूप से प्रगतिशील जीवन-दृष्टि भी अक्सर स्थापत्य के मामले में प्रयोगशील हो जाती है। **सोमदत्त** हिन्दी के समकालीन कवियों में इस दृष्टि से अकेले और अलग दिखाई पड़ते हैं कि उन्होंने विवरणपरकता और लगभग एक जैसी लगने वाली काव्य-भाषा के चिकने-चुपड़े माहौल को अपनी अनगढ़ शब्द-योजना से प्रयत्नपूर्वक विध्वस्त किया है। "**पुरखों के कोठार से**" संकलन के तीसरे फ्लैप पर कवि-समीक्षक डॉ० केदारनाथ सिंह ने सही लिखा है कि "सोमदत्त यहां एक नयी भाषा की तलाश कर रहे हैं। इस तलाश का रास्ता कवि को लोकजीवन और लोक भाषा की ओर ले जाता है, जहां असंख्य अनपहचाने और अनगढ़ शब्द जीवन की भट्टी में तप रहे हैं। सोमदत्त के लिए वही भट्टी "पुरखों का कोठार" है। कवि को पता है कि यदि उम्मीद का बिरवा उगाना है तो बीज के लिए उसी कोठार तक बार-बार जाना होगा—चाहे कई बार अपरिचित और अग्राह्य हो जाने का जोखिम उठाकर ही जाना पड़े।" सोमदत्त पुरखों के कोठार तक गये हैं, किन्तु वे इस स्थिति को अच्छी तरह समझते हैं कि कविता का उनका समकालीन दौर कबीर की चुनौतियों से लैस होकर भी भाषा के मामले में बिल्कुल अभिजात-परिवेश—सम्पन्न है। अतः 'भाषा का डिक्टेटर' होने में भी अभिव्यक्ति के खतरे हैं और वे कतई नजर-अन्दाज करने योग्य नहीं हैं।

सोमदत्त के इस संकलन की लगभग तीन दर्जन कविताओं में प्रयासपूर्वक भाषा के आभिजात्य को तोड़ने, विध्वस्त करने में कवि की संलग्नता द्रष्टव्य है। कई बार इस कार्य के लिए उन्हें मसखरा अन्दाज में चीजों की वास्तविकता उजागर करने की अनिवार्यता महसूस हुई है—ऐसे क्षण वे बड़े मासूम ढंग से वस्तुस्थिति की भयावहता को ठेंगा दिखाते हैं—। 'इच्छा गाने की' में लिखते हैं—

> **"भीतर के अंधेरे से/खूब गहरे अंधेरे से**
> **काले संगमरमर से ठोस अंधेरे से**
> **आवाज, बीज के अंधेरे की लय में**

लहराती है/पानी की बारीक ऊपर उठती
तरल गतिमय धार-सी मन में/इच्छा गाने की।

—पुरखों के कोठार से, पृ० 56

सोमदत्त गाते हैं और पूरी तन्मयता से गाते हैं, लेकिन उनका गायन अपनी परिणति में रोदन को भी मात कर देता है। वैसे, व्यंग्य की कला उनकी निजी है। मध्यवर्ग का उपहास करते हुए, कवि-समीक्षक डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव की शब्दावली में "आलोचनात्मक यथार्थवादी काव्य विवेक का निर्वाह" करते हुए, सोमदत्त अन्यतम लगते हैं। सोमदत्त वर्ग-विषमता को बेनकाब करते हुए, विचारों की अराजकता से जूझते और दिशानिर्देश करते, मूल्यों के पतन पर झुंझलाते हुए, कहीं बहुत गहरे में सच्चे भावुक और सहृदय कवि की प्रतीति कराते हैं, दो तीन उद्धरण पर्याप्त होंगे इसके आभास के लिए—

1. चन्दन प्रभु तुम/पानी हम प्रभु
पानी हम प्रभु उस गड़हे के जिसको रोज खोदकर प्रियजन
प्यास बुझाते, बंसबेल की अंजर-पंजर सन्तानों की
प्यास बुझाते, पुरापड़ोस गली से गुजरे जजमानों की
प्यास बुझाते बीच थिराकर सागर सोख बड़े मानो की—

चन्दन तुम प्रभु उस काठी के जिसमें व्यापा विष सांपों का
साँप चतुर जो दूध पिलाकर बाघों को बिल्लियां बनाते
साँप चतुर जो बीन बजाकर काल बेलियों को नचवाते
सांप चतुर जो मन्त्र फूंककर घर में घर धूले खिलवाते

पानी हम उस बड़े बांध के/जिसकी जांघ जोत ली तुमने
पानी प्रभु उस कमल नयन के जिसकी जोत सोख ली तुमने
पानी प्रभु उस बड़वानल के जिसकी आग तोप दी तुमने

—पुरखों के कोठार से, पृ० 58

2. झनझना रहा होगा/कातिक की आई-गई बौराई की चपलता
देख धरती से उठी बीज की भारवान पलकों का/सपना भिद गया
होगा उसकी असंख्य बरुनियों में समा गया होगा/उसकी बैंगनी
कलछौंही पुतली में/उतर गया होगा/उसकी धधकती सफेदी में उसका तन/
झनझना रही होगी उसके अजर यौवन में ध्रुवरग

देखा जाए तो सोमदत्त कबीर, निराला, नागार्जुन की परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। उनमें शब्दों की स्थानीयता का रंग भले अनोखा हो, कहने वाले कह सकते हैं कि कवि लकीर का फकीर है। मगर यहीं पर ठहरकर विचार करने की आवश्यकता होती है। क्या यह सही नहीं है कि प्राय: प्रत्येक युगान्तकारी प्रतिभा एक खास सन्दर्भ में लकीर का फकीर ही होती है ? आखिर अभिव्यक्ति के अधिकाधिक खतरे उठाकर ही तो कोई कवि अपने कर्म को अधिकाधिक महनीय और लोकोपयोगी बना पाता है। सोमदत्त किस अक्खड़ता से अपनी बात कह जाते हैं, उन्हें कहां किसी रहस्यवादी आवरण की, माया-मोहन की आवश्यकता पड़ती है ?

वे मकड़ी के जाले नहीं बुनते, कविता के नाम पर पहेलियां भी नहीं बुझाते, सीधे साफ और लोकगीतों से सरोकार रखने के कारण अपने समकालीनों की तुलना में कुछ ज्यादा ही प्रभावशाली ढंग से वे अपनी बात कहते हैं।

कभी-कभी तो लगता है कि सोमदत्त तय नहीं कर पा रहे कि चीज़ों को कैसे निबटायें। रंग-रेखाओं के ज्ञान का ज्यादा सदुपयोग करने के लिए ऐय्याशों का-सा अवकाश भी कहां है उनके पास ? ऐसे में, ठेठ किसान कवि की तरह वे भाषा का अनगढ़ संसार रचते हैं या फिर अपवादस्वरूप भी नागरिक ऐश्वर्य का संभार वहन करने में असमर्थ होने के कारण अक्सर झुंझलाते-खीझते-मसखरी करते देखे जाते हैं।

उनके इस संकलन में भोपाल गैस-त्रासदी पर भी तीन कविताएं हैं, जिनमें घटनाओं की कुत्सा बहुत बारीकी से रिपोर्ताज शैली में विवृत होती है। किन्तु यहां ध्यान रहे राजेश जोशी वाली आहत संवेदना का भीतर से उदास कर देने वाला प्रयत्न उनके लिए संभव नहीं है। मेरा खयाल है कि घटनाओं का विवरण युगधर्म के लिए, उपयोगिता की दृष्टि से प्रासंगिक हो सकता है, लेकिन कविता-विधा की प्रकृति ही भिन्न होती है, यह भी कि कविता अपने निजत्व और संगोपन को सुरक्षित रखकर ही समय की चुनौती का सामना करने के साहस और दायित्व निर्वाह का बेहतर निदर्शन बन सकती है।

इस संकलन में दर्जनाधिक कविताएं ऐसी हैं, जिनकी रचना जनकवियों—मसलन केदार, नागार्जुन आदि की तर्ज पर हुई हैं। कई का सम्बन्ध दुनिया की समकालीन मानवीय त्रासदियों से है। "क्वागुएवात्स में पूरे स्कूल के साथ" कविता भोपाल गैस-त्रासदी की तुलना में बेहतर परिणामित हुई है, कदाचित् बच्चों को आलम्बन बनाने के कारण अमानवीयता के प्रति घृणा के सम्प्रेषण को एक रासायनिक आधार मिल गया है।

इस तरह देखा जाए तो मानवीय-समृद्धि और रचनावस्तु के निरामिष वैविध्य के कारण तथा तद्भवाश्रित शब्द-योजना के निरापद वैशिष्ट्य के लिए सोमदत्त अपने तमाम अन्तर्विरोधों के बावजूद हमारे समय के एक व्यक्तित्व सम्पन्न कवि लगते हैं।

हिन्दी के युवा प्रगतिशील कवियों में **विनोद दास** इन दिनों चर्चा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं तो सिर्फ इसलिए नहीं कि उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रोत्साहन पुरस्कार के योग्य ठहराया है, बल्कि इसलिए भी कि काव्य-यात्रा के आरंभ में अमूमन कोई कवि जिन अन्तर्विरोधों से जूझ रहा होता है, उससे वे पूर्णतः मुक्त हैं। उन्हें आत्मसंघर्ष का भयावह दौर नहीं झेलना पड़ा है, एक तरह से आत्मालोचन के बूर्ज्वा तर्क से भी वे कटे-छंटे हैं। उनकी कविताएं उनके कद के अनुरूप ही छोटी किन्तु साफ-सुथरी, संकेतगर्भ एवं दृष्टि-सम्पन्न हैं। विनोद चमत्कार उत्पन्न करने, परम्परा से बेवजह टकराने अथवा आत्मरति के बहाने ढूंढ़ने में अपने समय का अपव्यय नहीं करते। उनमें अमूर्त चित्रकारी का व्यामोह नहीं है, इसके अतिरिक्त वे अलंकरण के दुर्वह भार से भी अपनी कविता को मुक्त रख सके हैं। बावजूद इसके, विनोद दास अभिधावादी नहीं हैं, उनकी कविताएं ध्वनिकाव्य के उत्तम नमूने हैं। यद्यपि उन्हें निसर्ग कवि कहना अनुपयुक्त होगा। विनोद दास प्रशिक्षण प्राप्त कलावन्त हैं, 'जीवन के अनकहे सत्य के साक्षी' नहीं। अभ्यास के बल पर भी हमारे समय की उल्लेखनीय कविता लिखी जा सकती है, विनोद दास इसके

उज्ज्वल प्रमाण जुटाते हैं। बहुत सामान्य वस्तुओं और घटनाओं के विवरण, अनेक बार शब्दार्थ की रमणीयता की सुरक्षा के अतिरिक्त ज्वलन्त आशय की अभिव्यक्ति बिना किसी ताम-झाम के **'खिलाफ हवा से गुजरते हुए'** संकलन की कविताओं में उपलब्ध होती है। मैं यहां कुछ उद्धरण देने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूं :—

(1) यह ठण्ड की रात है/और ठण्ड बीड़ी के तम्बाकू तक पहुंच गई है/सामने से बीड़ी पीता एक आदमी आता है/अधजली बीड़ी वाला उसे रोकता है/बीड़ी से बीड़ी मिलती है/आग से आग फैलती है—(बीड़ी) पृ० 19

(2) घर में नहीं है नमक/कहता है दूकानदार/बाज़ार में नहीं है नमक/कहां गायब हो जाता है नमक/कैसे गायब हो जाता है नमक/जैसे मुझे मालूम नहीं हैं/कैसे गायब हो जाती है शहर से अचानक एक रात में/गन्दी बस्तियां···
गायब हो जाएगा/यदि नमक बाज़ार से/समुद्र के दुश्मनों के कब्जे में भी होगा/हम थोड़ा सा बचा रखेंगे नमक अपने पसीने में/अपने रक्त में/अपने आंसुओं में/आखिरी दिनों तक —(नमक) पृ० 30

इस पुस्तक में संकलित कुल उनचालीस कविताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विनोद सच्चे सहृदय एवं भावुक होने पर भी समकालीनता की अवधारणा कायम रखते हैं। वे कविता में दूर की कौड़ी पर भरोसा नहीं करते। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि विनोद दास का अनुभव संसार उनके कद से बड़ा है। वे कविता की वास्तविक ज़मीन पर खड़े हैं। इसीलिए बहुत पुरानी शब्दावली में उनकी कविताएं बहुजीवन की छवियां हैं।

'खिलाफ हवा से गुज़रते हुए' में विविध विषयों की कविताएं संकलित हैं। इनमें अधिकांश मर्मस्पर्शी कविताएं भारतीय नारी की व्यथा-कथा खासतौर से आंकती हैं। संकलन की पहली ही कविता 'चांदी के तार' में बढ़ी उम्र की अविवाहिता के मनोविज्ञान को सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है।

दूसरी कविता 'पारदर्शी किला' कार्यालय तन्त्र पर मार्मिक टिप्पणी है। अर्दली की विवशता, सोचने की प्रविधि और कार्यालय रूपी पारदर्शी किले की वास्तविकता को जिस कुशलता से इस छोटी कविता में विनोद व्यक्त कर देते हैं, वह केवल उन्हीं के लिए संभव है। 'तवा' विनोद दास को वैचारिक तल देता है। 'पिंजड़े' में वे मध्यवर्गीय मिथ्याचेतना की परिधि को एकबारगी अस्वीकृत कर देते हैं। विनोददास भोपाल की गैस-त्रासदी का भी अपने ढंग से स्मरण करते हैं किन्तु औरत की दिनचर्या को उजागर करने वाली 'गृहिणी : कुछ कविताएं' अपने प्रभाव में असाधारण हैं। अपने घर-परिवार, आस-पड़ोस की दैनन्दिनी लिखते हुए कवि प्राय: अपनी मानवीय समृद्धि से एक अचूक प्रभामण्डल बनाता है, जो अमूमन अल्पवयस्क कवियों के लिए असंभव होता है। विनोद दास इस मामले में परिपक्व लगते हैं कि शब्द एक भी व्यर्थ खर्च नहीं करते। शब्दों की कला में वे नागरिक दायित्व का पता देते हैं, किन्तु संवेदना ठेठ गंवई है। 'गांव : छह कविताएं' के अतिरिक्त भी 'सिपाही एक दृश्य', 'नए अन्न की आहट', 'फसल', 'दोपहर', 'सन्दूक' जैसी कविताएं इस युवक कवि की ग्रामीण चेतना के प्रति आश्वस्त करती हैं। इन कविताओं में प्रगतिशील काव्य-परम्परा से जुड़ने का आग्रह होने पर भी एक ताजगी और आकर्षण है। आदिवासियों की वस्तुस्थिति को उजागर करती तीन कविताएं भी— अपने तेवर से समकालीनता की अवधारणा पुष्ट करती हैं। यहां जंगली पेड़ के प्रति कवि की

सहानुभूति तथाकथित वैष्णव कवियों की तुलना में अधिक शाकाहारी है। यह मानवेतर न होकर मानवीय ही है, क्योंकि दृष्टि मानवीय है। काव्यभाषा व्याकरण सम्मत है। प्रगतिशील कविता-परम्परा के अनुरूप ही जनता की समझ में आने वाली, किन्तु क्षेत्रीय बोलियों का पैबंद नहीं लगाया गया। विनोद दास भाषा के मामले में अभ्यासपूर्वक अर्जित अनायासता के कायल हैं। न तो बिम्ब-प्रतीक का आग्रह और न सौन्दर्य के मामले में शुद्धतावादी कुण्ठा ही रखते हैं।

विनोद दास में कवित्व की निसर्गता नहीं है, किन्तु कवि हृदय की सहजता कहीं-कहीं अवश्य दिख जाती है। उदाहरण के लिए 'चूड़ियां' और 'खत' कविताएं पढ़ी जा सकती हैं।

पूरे संकलन में 'खत' कविता सहजता के मामले में अकेली है, वैसे 'चूड़ियां' और 'गले मिलते रंग' में भी भिन्न प्रकार की सहजता लक्षित की जा सकती है। चूड़ियों की खनखन से घर की एकरसता जहां भंग होती है, वहीं रात के नितान्त निजी प्रसंग उसके द्वारा खबर में रूपान्तरित हो जाते हैं। 'गले मिलते रंग' में विनोद दास प्रमाणित करते हैं कि उन्हें अवसर मिले तो जीवन के रास रंग को, उत्साह और उमंग को भी बेहतर अभिव्यक्ति दे सकते हैं।

देखा जाए तो विनोद दास का व्यापक जीवनानुभव यहां वैज्ञानिक विश्व दृष्टि का पीछा करता दृष्टिगोचर होगा। कवि खुली आंखों से अछोर विस्तृत धरती के जीवन का रेखांकन कर रहा है। निम्नमध्यवर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण कवि कतिपय स्थलों पर भुक्तभोगी का-सा आचरण कर रहा है। ऐसे स्थल इस संकलन में भरपूर हैं जहां सामाजिक-आर्थिक वैषम्य को विश्वसनीय ढंग से कविता में चित्रित किया गया है। गांव से सम्बद्ध छह कविताओं में तीसरी तो इस दशक की सर्वाधिक ज्वलन्त आशयवाली कविता मानी जाएगी—

> **एक झीनी झाड़ी के पीछे/लोटा आगे रखे हुए उकड़ू बैठी है एक**
> **औरत/जब सुनायी देती है कोई पदचाप/झट से खड़ी हो जाती है**
> **वह औरत आंखें नीची किये हुए/मुद्दत से खड़ी है वह औरत आँखें**
> **नीचे किये हुए/उसके पेट में उठ रहा है मरोड़/ओंठ भींचे हुए**
> **उससे लड़ रही है वह औरत—** पृ० 42

अनेक अश्लीलतावादियों के यह कविता गले नहीं उतरती, किन्तु अभी से ही विवादास्पद बन रही यह कविता विनोद दास की दृष्टि-क्षमता और अभिव्यक्ति के खतरे उठाने के साहस का पता देती है।

यह प्रसन्नता की बात है कि अल्पवय में ही कविता विधा की नैसर्गिक प्रकृति से कवि का प्रगाढ़ परिचय हो गया है। उसे थोड़े में बहुत कहने का ढंग मालूम हो गया है, साधारणता में ही असाधारण कथ्य काढ़ लेने की दक्षता प्राप्त हो गई है। विनोद दास के छोटे से संकलन में दो दर्जन से अधिक उल्लेखनीय कविताएं संकलित हैं, इधर के वर्षों में किसी एक ही संकलन में इतनी बड़ी संख्या में उल्लेखनीय कविताएं दुर्लभ रही हैं।

पुस्तकें :—

1. पुरखों के कोठार से : सोमदत्त, संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज हापुड़, मूल्य-25.00 रुपये
2. खिलाफ हवा से गुजरते हुए : विनोद दास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य—पच्चीस रुपये।

दो संस्कृतियों के बीच अनुवाद का पुल

☐ गंगा प्रसाद विमल

अनुवाद कला है या विज्ञान यह विवाद का विषय हो सकता है परन्तु अनुवाद आज की एक बेहद आवश्यक गतिविधि है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अनुवाद के जरिये हम दुनिया की अपरिचित संस्कृतियों का भी परिज्ञान पाते हैं। अर्थात् अनुवाद अज्ञात, अपरिचित, दूरस्थ किसी भिन्न इकाई की सत्यता, उसकी गतिमयता और उसके राजनैतिक तथा सामाजिक-ऐतिहासिक दाय को भी रेखांकित करता है। यह विचित्र लग सकता है परन्तु है सत्य कि अनुवाद का कार्य शायद सृजन से ज़्यादा उत्तरदायित्व और जोखिम से भरा है।

साहित्यिक कृतियों के अनुवाद कला की कोटि में आते हैं। वैज्ञानिक ढंग से किए गये अनुवाद शास्त्र या अनुशासन में किए गये अनुवाद हैं। वैज्ञानिक अनवादों में फिर भी एकरूपता, विन्यासगत नियमन सम्भव होता है किन्तु साहित्यिक अनुवाद का मार्ग चुनौती भरा मार्ग है। इसीलिए जब हम उसे जोखिम भरा कहते हैं तो यह बात ध्यान में रखते हैं कि कोई एक अनुवाद सर्वश्रेष्ठ या पूर्ण नहीं होता क्योंकि सृजन की पेचिदगियां ठीक उसी रूप में अनुवादक को बेचैन करती हैं जिस ढंग से वे साहित्य-रसिक के सामने रहती हैं। उत्तरदायित्व से भरा काम यह इसलिए है कि सृजेता की तरह अनुवादक बहुत छूट नहीं ले सकता। उसे अपने दायित्व के निर्वहन के लिए बहुत सचेत और भाषाओं के रूपान्तरण सम्बन्धी नियमों से बंधा भी रहना पड़ता है। अनुवाद अन्ततः एक पुनः सृजन का कार्य है—उसे मूल रचना के निकट, उसके विश्वासों को ठीक-ठीक संप्रेषित करने का कार्य करना पड़ता है।

अनुवाद की जरूरत भी एक मानवीय जरूरत है। वह दो संस्कृतियों को जोड़ती है। डा० वरयाम सिंह द्वारा किए रूसी कविताओं के अनुवाद द्वारा हम रूस जैसे महादेश की उस आध्यात्मिक विरासत से परिचित होते हैं जिसके बारे में पूर्व नियोजित प्रचार [पक्ष या विपक्ष का प्रचार] राजनैतिक स्तर की भ्रान्तियों को जन्म देता है। इन राजनैतिक भ्रान्तियों से हम किसी भी देश के बारे में 'सच' से परिचित नहीं होते। अतः यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है कि किसी भी महादेश की सत्यता केवल उसके राजनैतिक विश्वास नहीं हैं बल्कि जिन राजनैतिक विश्वासों तक वह पहुंचा है—उसकी एक लम्बी यात्रा है और इस यात्रा में उस देश का अपना सांस्कृतिक

स्वभाव निरन्तर प्रकट होता है। यह सांस्कृतिक प्रकृति स्वयं उस देश के नागरिकों की एक आत्मीय, अनुबोधात्मक स्थिति होती है। इसे केवल सृजनशील कर्मों एवं मानवीय मूल्यों के प्रति सजग कलाचेतना द्वारा ही जाना जा सकता है। सोवियत देश की संस्कृति क्या है—उसका वर्तमान किस अतीत पर खड़ा है? यह ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें सोवियत देश में फैले धार्मिक विश्वास भी स्पष्ट नहीं कर पाते। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि धर्म-विश्वासों से किसी देश के सांस्कृतिक परिदृश्य को पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। जिसे हम किसी देश की आस्तिकता कहते हैं, वह वास्तव में उस देश की रचनाशीलता का वह तत्त्व है जो काव्य-कलाओं द्वारा ही व्यक्त होता है। अत: यह केवल बड़बोलापन नहीं है कि यदि हम यह स्वीकार करें कि सोवियत भूमि के मानव-समुदाय का विभाव उसकी काव्य-कलाओं में पूर्ण रूप में बिंबित होता है। उदाहरण के लिए अलेक्सांद्र ब्लोक[1] की कविताएं लें तो हम पायेंगे कि आधुनिक रूस की वे धड़कनें, जो क्रान्ति पूर्व देश में परिव्याप्त थीं, इतनी प्रखरता से अन्यत्र दुर्लभ हैं जितनी वे ब्लोक की कविताओं में सुलभ हैं! ब्लोक की कविताओं में रूसी जनमानस की सजगता, विविधता, क्रान्तिकामी प्यास पिछली सदी की अन्य विशेषताओं के साथ प्रतिबिंबित होती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के रूस की साहित्य परम्परा का रहस्योन्मुख रुझान भी चाहे ब्लोक की आरम्भिक कविताओं में विद्यमान है तथापि न वह ब्लोक की कविताओं का मुख्य स्वर है और न उन्नीसवीं शताब्दी के रूस के हलचल भरे वास्तव का मुख्य स्वर। यद्यपि ब्लोक ने उन्नीसवी शताब्दी के समाप्त होते होते—अपनी काव्य रचना आरम्भ कर दी थी तथापि उनकी कविताएं 19 वीं और बीसवीं शताब्दी की संधि की कविताएं हैं। भूमिका में वरयाम सिंह ने इस कवि के अन्तर्मन्थन पर लिखा है, "ब्लोक के लिए कवि रूप में यह वक्त यातनाओं का रहा एक ओर अभिजातीय संस्कार, धार्मिक रहस्यवाद व अराजकतावादी व्यक्तिवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव और दूसरी ओर समाज में घटित हो रहे को ईमानदारी से व्यक्त करने की चाह। इन दोनों के बीच ब्लोक का कवि जूझता रहा है।" वास्तविक रूप से यह स्थिति ब्लोक की ही नहीं रही होगी बल्कि उन तमाम लोगों की रही होगी जो क्रान्ति से सीधे-सीधे नहीं जुड़े थे, पर उनकी कामना और नैतिक समर्थन क्रान्ति के प्रति था। रूसी क्रान्ति कोई छोटी चीज़ नहीं थी बल्कि एक ऐसी ऐतिहासिक घटना थी जिसने विश्व की विचारणा को एक नया मोड़ दिया, जिसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य ही अपनी नियति का वास्तविक नियन्ता है। यह एक प्रकार से पुराने विश्वासों, भाग्यवाद और धार्मिक अन्धवाद को एक ऐतिहासिक उत्तर था जो शताब्दियों से सुधारवादी आन्दोलन और नैतिकतावादी आग्रह नहीं दे पा रहे थे। ब्लोक ने लिखा है—

> "घटित हो चुका है सब कुछ, सब कुछ / पूरा हो गया है काल चक्र
> कौन सी ताकत, कौन सा झूठ / लौटायेगा तुम्हें, ओ मेरे अतीत…"

स्मरण रहे कि कवि का यह अहसास क्रांति के पूर्व का है। ये पंक्तियां अगस्त, 1909 में लिखी गई थीं। इतने वर्ष पूर्व, अपनी स्थिति की समीक्षा और भवितव्य की सांकेतिकता प्रस्तुत करना किसी बड़े कवि का ही काम है। युद्ध और उसकी विभीषिका से कवि का परिचय अपने युवाकाल में होता है और जब प्रथम महायुद्ध की भूमिकाएं सक्रिय हो रही थीं तब वह लिखता है—

---

1. अलेक्सांद्रब्लोक की कविताएं (अनुवाद: वरयामसिंह)

बहरे वर्षों में पैदा हुए/याद नहीं हमें अपनी राहें

....

सायरन की आवाज़ों से आतंकित/यह मौन/विवशता है होठों की

....

हमारी मृत्यु शय्या पर/कांव-कांव करते रहेंगे कौवे,

पर जो भी होंगे सक्षम/बोध दिव्य जगत का अवश्य होगा उन्हें

ब्लोक की कविताओं में स्पष्टतः रूसी जीवन और समाज की वह अन्तरंगता मिलती है जो एक ओर भविष्य की तय्यारी में लगी है, दूसरी ओर अपने वर्तमान से जूझ रही हैं। वह वर्तमान जो अतीत के मूल्याधारों पर ठहरा है। अतीत भी वह जो एक ओर निरंकुश राजाओं के अत्याचारों से पटा है दूसरी ओर दास प्रथा जैसी घोर नारकीय परिस्थितियां पैदा कर जन-सामान्य के लिए विपत्तियों का सृजन करता है। ब्लोक या मायकोवस्की इस संक्रमण को वाणी देने वाले कवि हैं, ब्लोक की अति महत्त्वपूर्ण कविता है 'बारह', जो क्रान्ति को समर्पित है। इस कविता में समसामयिक दृश्य इतने जीवन्त हैं कि उन्हें शब्दों के दृश्य-चित्र कहा जा सकता है—

मकानों के बीच लटकी रस्सी पर/टंगा कपड़े का बैनर
"सम्पूर्ण सत्ता संविधान सभा को !"
बुढ़िया बेचारी समझ नहीं पाती—
यों लटकाया गया कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा !
कितनी निकल आती कमीज़ें बच्चों के लिए
कुछ भी तो नहीं है उनके पास तन ढकने को···
....

लम्बे-लम्बे बालों वाले/यह कौन हैं महाशय
फुसफुसा रहे हैं जो :/—देशद्रोही कहीं के !
विनाश कर डाला है रूस का/हो न हो यह है···
....

किसी काम की नहीं कुतिया-सी पुरानी दुनिया

ब्लोक इस लम्बी कविता में क्रान्ति के मानवीय पक्ष को इतनी सबलता से रखते हैं कि वे खुदा को भी जैसे क्रांति में शामिल कर डालते हैं। भारतीय पाठक के सामने हिन्दी के ये अनुवाद जहां बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के सत्य को स्पष्ट कर डालते हैं वहीं यह भी बताते हैं कि तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी एक जाति संकल्प और अपनी संगठित एकता से वह चमत्कार ला सकती है जिसे लोग केवल कल्पनातीत मानते रहे हैं।

कोस्ता खेतागूरोव[1] की कविताएं भी क्रांति पूर्व रूस, और एक विशिष्ट राज्यीय इकाई के वास्तविक संसार को व्यक्त करती हैं। ब्लोक से लगभग 20 वर्ष बड़े खेतागूरोव एक ओर लोक साहित्य पर आधृत रचनाएं लिखते रहे तो दूसरी ओर वे नितान्त भिन्न प्रकार की रचनाएं लिख कर अपने जनवादी विश्वासों को वाणी देते रहे। उन्होंने रूसी जनमानस की उस हल-

1. कोस्ताखेतागूरोव की कविताएं (अनुवादक : वरयामसिंह)

चल को बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जिसकी ओर उनके समकालीन कवियों ने इतनी स्पष्टता से ध्यान नहीं दिया था।

गूँजने लगे जब चौराहे पर नारों का शोर,
लहरों की तरह उछलने-कूदने लगे भीड़,
न करना तू विश्वास उस भीड़ पर
वह होती है मूढ़, निष्ठुर, असभ्य, अस्थिर।
....

अपने आदिम उत्साह में निर्माण करते हुए
जो कुछ भी किया होता है कल तक उसने निर्मित
आज उसी तरह के आदिम क्रोध में
रौंद डालती है उसे, कर डालती है उसे ध्वस्त"

वास्तव का विवेक से छान कर कवि साथ-साथ यह विश्वास भी व्यक्त कर डालता है कि ध्वंस का राग भी वही भीड़ अलापती है जो पहले कुछ निर्मित करती है। "उपदेश देने वाले मित्रों के लिए" शीर्षक उनकी कविता में कवि खेतागूरोव ने उस कृति का ही तिरस्कर नहीं किया जो हवाई किलों से कहे गये तथाकथित सद्‌वचनों की अर्थहीनता व्यक्त करती है बल्कि एक उस वृति को भी वे रेखांकित करते हैं जिसमें दुहरे मानदण्डों की स्वीकृति होती है—

मुझे नहीं चाहिए तुम्हारे सुख/जनता की उनमें नहीं हैं खुशियां।
दम घुटता है मेरा चमकीले महलों में
चुंधिया जाती हैं आंखें उनकी चमक-दमक में।

ओ सितियाई जन समाज के महान कवि कोस्ता खेतागूरोव से हमें एक प्रजातीय इकाई की आकांक्षाओं का परिचय मिलता है। ये कविताएं एक साथ वहां की भाषाई विशषताओं से, बिम्बों-प्रतीकों और लोक सामग्री से भी हमें अवगत करती हैं।

डा० वरयाम सिंह ने जहां ब्लोक, कोस्ता की कविताओं के अनुवाद किए हैं वहीं उन्होंने रूस के महान कवि मायकोवस्की की उन कविताओं का अनुवाद भी किया है जो क्रांति से पूर्व लिखी गई थीं। क्रांति से पूर्व की इन कविताओं का विशेष अर्थ है—और वह अर्थ है एक सम्पूर्ण जाति की सक्रियता से परिचित होना। परन्तु वरयामसिंह के बाद में आन्देई बोज्नेसेन्स्की[1] तथा आधुनिक ब्येलोरूसी[2] कविताओं के अनुवाद भी दो भिन्न संकलनों में प्रकाशित हुए हैं। इन अनुवादों के द्वारा हिन्दी पाठक बीसवीं शताब्दी की रूसी रचनाशीलता से परिचित होता है। इन वर्षों में जब भारत और सोवियत देश की मैत्री अनेक स्तरों पर सुदृढ़ हुई है, यह नहीं भूलना चाहिए कि इन दो देशों की मैत्री की मुख्य आधार भूमि दो देशों के समान विचार, दो देशों की प्रजातांत्रिक आस्थाएं और मित्र विचारधारागत व्यवस्थाएं होते हुए भी राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर वैचारिक साम्यता है जिसका पहला अहसास इन दो देशों के साहित्य में होता है। अत: यह कहना कि दो देशों की मैत्री का मुख्य आधार सांस्कृतिक रूप से दो देशों की निकटता है—नितांत काल्पनिक कथन नहीं है। इस कथन की पुष्टि इन दोनों देशों का

---

1. आंद्रेई बोज्ने सेंस्की की कविताएं (अनुवाद : वरयामसिंह)
2. आधुनिक ब्येलोरूसी कविताएं (अनुवाद : वरयामसिंह)

साहित्य, यहां की कलाएं और रचनाकारों की मिली-जुली कोशिशें करती हैं।

डा० वरयामसिंह ने ये अनुवाद सीधे रूसी भाषा से किए हैं अतः उनकी विश्वसनीयता बनी रहती है क्योंकि परभाषाओं से हुए अनुवादों के बारे में सदैव संदेह बना रहता है कि कहीं मूल भाव में कोई हेरफेर तो नहीं हुआ होगा। डा० वरयामसिंह रूसी भाषा के विद्वान होने के साथ-साथ एक सुकवि हैं और कविताओं के अनुवाद का काम यदि कोई आधिकारिक रूप से करने का अधिकारी है तो वह कवि ही हो सकता है। हम केवल यह टिप्पणी कर सकते हैं कि हिन्दी में ये अनुवाद मूल की सी प्रतीति देते हैं। सोवियत-भारत साहित्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका में वही ऐक्य स्थापित करने में सक्षम है जो दोनों देशों की जनताओं के हृदय में पहले ही रूपायित है।

[3-ए/11; डब्ल्यू. ई. ए. नई दिल्ली-110005]
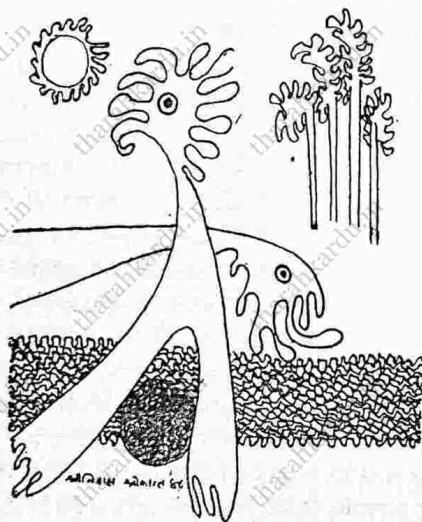
आयोजन

अज्ञेय-स्मृति गोष्ठी

शब्द में मेरी समाई नहीं होगी

अज्ञेय जी के प्रारंभिक साहित्यिक जीवन के कुछ महत्वपूर्ण वर्ष इलाहाबाद में ही बीते। 'प्रतीक' यहीं से उन्होंने निकाला था। एक जमाना था, जब इलाहाबाद साहित्य की कार्यशाला माना जाता था। अनेक साहित्यिक आन्दोलन इलाहाबाद से ही उठे और पूरे देश में व्याप्त हो गए। अज्ञेय जी इलाहाबाद की इस तासीर को पहचानते थे। अज्ञेय जी के न रहने पर इलाहाबाद में 3 मई, 1987 को उनकी स्मृति में एक गोष्ठी 'दृष्टि और संवेदना : एक अंतरंग खोज' नाम देकर हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों और हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने मिलकर आयोजित की। आयोजन की संकल्पना में डा० जगदीश गुप्त, प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० राम कमल राय और डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र की भूमिका प्रमुख थी।

गोष्ठी में विषय प्रवर्तन करते हुए गोष्ठी के प्रसंग की गरिमा को ध्यान में रखकर अज्ञेय जी की ही स्थापनाओं के माध्यम से डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र ने कई विचार सूत्र दिए और इसे मात्र संस्मरणांजलि-गोष्ठी होने से बचाने की भरसक कोशिश की। लेकिन आगे आने वाले अधिकतर वक्ताओं ने विषय प्रवर्तन में उठाए गए विचार-सूत्रों को अनदेखा करते हुए इसे संस्मरण गोष्ठी बनाने की कोशिश की और गोष्ठी के विषय में उसकी पूरी छूट 'अन्तरंग खोज' के आधार पर थी भी।

विषय प्रवर्तन में डॉ० मिश्र ने विचार के मुद्दों को उठाते हुए कहा कि "सृजन करने वाला व्यक्ति ही मृत्यु को निरर्थक सिद्ध करता है, क्योंकि हर रचना या सृजन पाठक या रचनाकार दोनों को, सृजित कर देती है।"

कृति और कृतिकार में से किसको विश्वसनीय मानना चाहिए, इस सवाल पर उन्होंने कहा, "अज्ञेय जी 'कृति को ही विश्वसनीय' मानते हैं, कृतिकार को नहीं। भारतीय संस्कृति के बारे में अज्ञेय जी को उद्धृत करते हुए डॉ० मिश्र ने बताया कि "वात्स्यायन जी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता आचरण और कर्म पर बल को मानते थे 'विश्वास लाने' पर नहीं।"

मूल्यों के सृजन में व्यक्ति और समाज की भूमिका के बारे में यह मान्यता रखी कि "अज्ञेय का स्पष्ट कथन है कि मूल्यों का सृजन व्यक्ति का क्षेत्र है और उसका आचरण या नियमन समाज का क्षेत्र है। नैतिक बोध, सौन्दर्य बोध और शिवत्व बोध का आधार अज्ञेय के अनुसार एक है, इसीलिए किसी कृति में या समाज में इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता।"

अलग करके देखने का क्या दुष्परिणाम होता है, डॉ० मिश्र ने इसके लिए भारत की वर्तमान स्थिति की ओर संकेत किया और कहा कि "अज्ञेय के अनुसार समता पर बल देकर हम न्याय की रक्षा नहीं कर सकते। वात्स्यायन जो 'स्वाधीनता' को आधार भूत मूल्य मानते हैं। अज्ञेय का यह भी मानना रहा है कि स्वाधीन व्यक्ति ही सृजनशील हो सकता है और व्यक्ति स्वाधीन हो सकता है स्वाधीन समाज में। स्वाधीन हुए बिना मनुष्य मूल्यों का सृजन करने वाला प्राणी नहीं बन सकता। मनुष्य होने की प्रतीति नर को भाषा से ही होती है। भाषा मात्र मनुष्य होने की पहचान और शर्त है। भाषा मूल्यों में सर्वप्रथम उस बीज मूल्य की प्रतीति कराती है, जिसे स्वाधीनता कहते हैं।"

डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र द्वारा प्रस्तुत अज्ञेय की इन स्थापनाओं पर चर्चा न करते हुए अमृतराय ने अपने चिर-परिचित अन्दाज में कुछ संस्मरण सुनाए और कहा कि अज्ञेय जी सचमुच शब्दों से प्यार करते थे, कवि कर्म के प्रति अत्यन्त निष्ठावान थे। वह एक बड़े साहित्यकार थे, आत्म सचेतन रचनाकार थे। हमारे उनके वैचारिक मतभेद थे और मतभेद होना जरूरी भी है। वह दीन-दुनिया के लिए सबसे भयानक होगा, जब सब लोग एक तरह से सोचेंगे। अज्ञेयजी की 'शरणार्थी' पुस्तक को, जिसे वह अपने झोले में लेकर आए थे, दिखाते हुए उन्होंने कहा कि—'शरणार्थी' में देश के विभाजन का दर्द जिस संवेदनशीलता के साथ उभर कर आया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसे महत्व न देना हम प्रगतिशीलों की वैचारिक जड़ता का प्रमाण है।

अज्ञेय साहित्य के संवेदनशील समीक्षक प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अज्ञेय जी की कविता-पंक्ति "शब्द में मेरी समाई नहीं होगी। मैं सन्नाटे का छंद हूं।" उद्धृत की और उन्हें शब्दातीत बताया। बड़े रचनाकार की कसौटी युग की पकड़ मानते हुए प्रो० चतुर्वेदी ने कहा कि बड़ा रचनाकार अपने युग की समस्या को कितनी दूर तक पकड़ता है, इसी से उसकी महत्ता आंकी जा सकती है। अज्ञेय में वह गुण था। उनके समूचे कृतित्व में एक आधार बिन्दु है—मानवीय व्यक्तित्व की चिंता। आज के युग की दो प्रमुख समस्याएं—राजनीति और यांत्रिकी मानते हुए डा० चतुर्वेदी ने कहा कि राजनीति मानवीय व्यक्तित्व को बाधा पहुंचाती है। सर्वसत्तावादी पद्धति मानवीयता का हनन करती है। समाज का निर्माण व्यक्तित्व से होता है। यांत्रिकी के घातक प्रभावों की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि, "यांत्रिकी के कारण सारी रचनात्मकता छोटी होती जा रही है मानवीय व्यक्तित्व की सुरक्षा नहीं है तो सारी संस्कृति नष्ट हो जाती है। स्वाधीन रहने और स्वाधीन रहने देने, इन दोनों की अज्ञेय जी ने प्रतिष्ठा की।"

बड़े रचनाकार की दूसरी पहचान प्रो० चतुर्वेदी, एक ही चिंता के विविध पक्षों को अलग-अलग रचनाओं में रखना मानते हैं और यह भी मानते हैं कि अज्ञेय की रचनाएं इसे प्रमाणित करती हैं। इसी संदर्भ में उनका यह भी मानना है कि परंपरा का विकास अनुकरण से नहीं टकराहट से होता है। स्वाधीनता रचना की बुनियादी शर्त है और अज्ञेय इस शर्त को पूरा करते हैं।

जनवादी कथाकार मार्कण्डेय ने अपने संस्मरणों से पुष्ट करते हुए कहा कि, "महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द के बाद अज्ञेय तीसरे ऐसे संपादक थे जो नई प्रतिभाओं को सामने लाते थे। मुझे भी सबसे पहले प्रतीक के माध्यम से अज्ञेय ने ही प्रतिष्ठा दी। उस जमाने में जिसकी रचना प्रतीक में छप जाती थी, वह रातोंरात विशिष्ट लेखक मान लिया जाता था।

कथाकार-नाटककार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने शरणार्थी संकलन की कहानियों की प्रगतिशीलता को स्वीकार न करने पर खेद प्रकट किया और उन्होंने भी अज्ञेय जी को एक अच्छा संपादक माना। अश्क जी ने कई रोचक संस्मरण भी सुनाए और कहा, "मेरे भीतर एक औरत भी बैठी रही है जो लगातार अज्ञेय के सौन्दर्य पर मरती रही है, मेरे भीतर का पुरुष भले ही रचनाकार अज्ञेय से ईर्ष्यालु है।

प्रगतिशील कथाकार अमरकांत ने कहा कि अज्ञेय जी जहां जाते थे अपने साथ एक आंदोलन लेकर चलते थे। अज्ञेय जी से हम लोगों का टकराव था और यह टकराव साहित्य की प्रगति के लिए जरूरी था। साहित्य में शब्दों का अनुशासन और परिश्रम अज्ञेय से सीखने की चीज है। अज्ञेय मूलत: कवि हैं फिर उन्होंने अच्छा गद्य भी लिखा है।

साहित्य चिंतक प्रो० व्रजेश्वर वर्मा ने कहा कि 'अज्ञेय का व्यक्तित्व इतने बड़े काल पर छाया रहा है, यह अपने आप में एक उपलब्धि है। अज्ञेय एक युग निर्माता कवि थे। संस्कृत के प्रकांड विद्वान डा० गयाशरण त्रिपाठी ने अज्ञेय के मौन की मुखरता को मुग्धभाव से व्याख्यायित किया।

कथाकार शैलेश मटियानी ने पूरी श्रद्धा के साथ अज्ञेय की मान्यताओं से टकराने की मुद्रा में अज्ञेय को ध्यान से पढ़ने पर बल दिया और कहा कि वे बहुत बड़े सवालों को सोचते हैं और दूसरों के लिए उनका आधार प्रस्तुत करते हैं। लेकिन संस्कृत के सवालों को लेकर उनके निष्कर्ष संकट में डालते हैं। शब्द हो, समाज हो, देश हो, उनको अपने तक लाकर देखना एक बात है और इन तक जाकर देखना दूसरी बात है। अज्ञेय जी पहली बात करते हैं। अज्ञेय जी काल को मनुष्य के समानांतर रखकर देखते हैं, मनुष्य से उसकी पृथक सत्ता स्वीकार करते हैं। जबकि काल की मनुष्य से अलग कोई सत्ता नहीं है। गति काल का नहीं, मनुष्य का सत्य है। अज्ञेय जी के बड़प्पन पर सवालिया निशान लगाते हुए मटियानी जी ने कहा कि "स्वयं की प्रतिष्ठा के लिए उनका खुद उद्यम करना उनके व्यक्तित्व में न होता, वे स्थतियों को अपने ही संदर्भ में न देखते तो अज्ञेय भारतीय मनीषा के बहुत बड़े व्यक्ति होते।"

शब्द में मेरी समायी नहीं होगी—अज्ञेय जी की इस कविता पंक्ति से अपनी असहमति जाहिर करते हुए मटियानी जी ने कहा कि वस्तु शब्द से ही अस्तित्व में आती है। शब्द के संकट की बात करना चतुराई है। संकट अनुभूति का होता है, विचार का होता है। अज्ञेय बहुत बड़े विचारक नहीं हैं। वे पुरानी अवधारणाओं का पुनर्सृजन करते हैं, वे मौलिक नहीं हैं फिर भी इतिहास पुरुष हैं।

मटियानी जी की इस टकराने वाली मुद्रा को देखते हुए अंत में गोष्ठी के अध्यक्ष श्री नरेश मेहत्ता ने कहा कि आज जिस प्रसंग में यह गोष्ठी की गई है, उसमें अज्ञेय की रचनाओं पर बहस या उसके मूल्यांकन की इतनी जल्दबाजी ठीक नहीं है इनके बावजूद रामजी राय ने अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविताओं को आमने-सामने रखते हुए उन्हें जड़ीभूत सौंदर्य का कवि कहा।

कथाकार श्री दूधनाथ सिंह ने अज्ञेय जी के इस कथन—'रचना में जो व्यक्तित्व आता है, वह मुखौटा होता' को उद्धृत करते हुए कहा कि मुखौटा सत्य को व्यक्त करने के लिए भी पहना जाता है।' वात्स्यायन हमारी साहित्यिक परंपरा के अभिजात्य संस्कार के खूबसूरत कवि हैं। वह ऐसा कुछ नहीं रचते जो कुछ खंडित करता हो। वे देश में घट रही बड़ी से

बड़ी घटनाओं से भी अपना संबंध नहीं जोड़ते, साहित्यिक परंपराओं से ही अपने को जोड़ते हैं। 1930 से लेकर 'अपने-अपने अजनबी' तक वे व्यक्ति की प्रेम कथा और अजनबीपन को व्यक्त करते हैं। प्रकृति के और प्रेम के मुख्य कवि हैं, लेकिन प्रेम और प्रकृति का वे बड़े धरातल पर उपयोग नहीं करते हैं। उनकी कविताएं एकांतिक संवेदना की कविताएं हैं। वे वृहत्तर सत्य से जूझते नहीं हैं। वे वर्तमान और भविष्य से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते। वात्स्यायन आलंबित संस्कृतियों को लिखने की कोशिश नहीं करते। वे अपने को अमूर्त प्रश्नों से उलझाते हैं। जीवन से टकराते नहीं। कंट्रोवर्सी ही उनके जीने की शर्त है।

अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री नरेश मेहता ने लेखकीय तैयारी के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर के बाद अज्ञेय को भारतीय साहित्य में दूसरे बड़े नाम के रूप में याद करते हुए कहा कि वात्स्यायन, बड़े लेखक ही नहीं, बड़े संपादक भी थे। पिछले 40 सालों की हिंदी कविता का इतिहास वात्स्यायन के सहयोग या उनसे विरोध का इतिहास रहा है। इस तरह पिछले 40 साल के काव्य में अज्ञेय केन्द्र में रहे हैं। उनके समझने की प्रक्रिया में हम स्वयं को समझते हैं।

अज्ञेय के आभिजात्य को 'नहाए धोए व्यक्ति की संज्ञा देते हुए उन्होंने कहा कि इससे अधिकांश हिंदी लेखक पीड़ित थे। भाषा के स्तर पर अज्ञेय भले ही अनभिव्यक्त रहे हों आचरण के स्तर पर कभी नहीं रहे। इसकी पुष्टि उन्होंने व्यक्तिगत संस्मरण के माध्यम से की। लेखक का अर्थ बताते हुए उन्होंने कहा कि एक लेखक का अर्थ होता है सम्पूर्ण खनिज व्यक्तित्व। यह खनिज व्यक्तित्व वात्स्यायन में था।

गोष्ठी में कवि चित्रकार डा० जगदीश गुप्त ने अज्ञेय पर कोई वक्तव्य न देकर अपनी कविताओं के माध्यम से उनके व्यक्तित्व की अनेक सूक्ष्मताओं को रेखांकित किया और स्वर्गीय कवि अज्ञेय को कविता के द्वारा अपनी स्मरणांजलि अर्पित की। महीयसी महादेवी वर्मा अस्वस्थ होने के कारण गोष्ठी में उपस्थित नहीं हो सकीं, लिहाजा अपनी श्रद्धांजलि उन्होंने डा० रामजी पांडे के माध्यम से लिखित रूप में अर्पित की।'

गोष्ठी का संचालन इस आयोजन के सूत्रधार और अज्ञेय जी के जीवनीकार डा० राम कमल राय ने किया।

—डॉ० अशोक त्रिपाठी

साधना का संतोष: ओम्प्रकाश सुजानपुरी

☐ हरिश्चन्द्र राय

लगभग बाईस वर्ष पूर्व जयपुर के प्रसिद्ध कलाकार कृपालसिंह शिखावत सुजानपुर टीरा के नरबदेश्वर मन्दिर के भित्तिचित्रों की अनुकृतियां तैयार करने हेतु सुजानपुर आए थे। उनका कार्य काफी परिश्रम साध्य था और अपने स्वभाव के अनुसार वे दिन-रात इसी कार्य में जुटे रहते थे। हिमाचल प्रदेश की प्रचुर कला-सम्पदा की ओर यद्यपि विश्व भर के कला-मर्मज्ञ आदर और कौतूहल से देखते थे, परन्तु सुजानपुर के निवासियों के लिए नरबदेश्वर केवल एक सामान्य मन्दिर था। लेकिन एक 19 वर्षीय नवयुवक, जिसने उस समय मैट्रिक की पढ़ाई पूरी भर की थी, कला-साधना में रत शिखावत की ओर अनायास आकृष्ट हो गया। ओम् प्रकाश रोज़ वहां आता और कलाकार के कार्य को अत्यन्त तन्मयता से देखते-देखते अपनी सुध-बुध खो कर उस कला प्रक्रिया में निमग्न रहता। युवक की रुचि और लगन देखकर एक दिन कृपालसिंह पूछ बैठे, "तुम हमारे साथ जयपुर चलोगे ?" युवक के सामने जीवन की कैनवास बिल्कुल खाली पड़ी थी। जयपुर जाने का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए उसने कला सीखने का आग्रह भी उत्सुकता से कर दिया। इस पर पारखी कलाकार ने आश्वासन देते हुए कहा, "हम सिखाएंगे तो चलोगे ?" बस अब क्या था मानो ओम प्रकाश को जीवन की सबसे बड़ी निधि मिल गई। जैसे ही भित्तिचित्रों का काम पूरा हुआ कृपालसिंह और ओम् प्रकाश, गुरु-शिष्य बनकर जयपुर चल दिए।

सुजानपुर टीरा, जो हिमाचल प्रदेश के हमीरपुर ज़िला का एक उपनगर है और कांगड़ा के प्रसिद्ध राजाओं घमंडचन्द एवं संसारचन्द की राजधानी रहा है, 1904 के भूकम्प के बाद अपना पिछला गौरव खो बैठा था। वहीं के एक मध्यवर्गीय परिवार में 20 अप्रैल, 1946 में जन्मे ओम प्रकाश ने स्थानीय राजकीय उच्च विद्यालय से 1965 में मैट्रिक परीक्षा पास करने के तुरन्त बाद एक अनुभवी कलाकार का शिष्यत्व ग्रहण कर अपने आप को धन्य माना। जयपुर में कृपालसिंह ने अपने अध्यवसाय और प्रभाव से सरकारी सहायता लेकर सवाई रामसिंह शिल्पकला मन्दिर की स्थापना कर ली थी और इस में उदीयमान कला-छात्रों को चित्रकला, रञ्जन-कला और विभिन्न शिल्पों की शिक्षा 'सीखो और कमाओ' के सिद्धान्त पर दी जाती थी।

ओम् प्रकाश को भी 100 रु० प्रति मास की छात्रवृत्ति बंध गई और तीन वर्ष के इस प्रशिक्षण में निश्चिन्त होकर जुट गए। साथ ही थोड़ा अतिरिक्त अनुभव और धन कमाने के लिए एक ब्ल्यू पॉटरी की फैक्टरी में भी पार्ट टाइम काम किया। 1968 में अपना प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात् अपने गुरू की उसी संस्था में 3 वर्ष तक अनुदेशक का कार्य करते रहे परन्तु पहाड़ी युवक को जयपुर का जलवायु अधिक समय तक ठीक नहीं ठहरा और 1971 में कामला रोग से पीड़ित होने के कारण घर लौट आए। स्वास्थ्य लाभ करते ही ऊना ज़िला के हठली गांव के हाई स्कूल में कला शिक्षक के पद पर कार्यरत हो गए। शिक्षण कार्य से जो अल्पाधिक समय मिलता उसमें अपनी कला-साधना में लगे रहते और इस मध्य जो कुछ ऐप्लिक-चित्र बनाए उनकी एक छोटी-सी प्रदर्शनी सुजानपुर में होली मेला के अवसर पर लगा दी। यह बात 1973 की है। इसी अवसर पर हिमाचल प्रदेश के तत्कालीन स्वास्थ्य एवं संस्कृति मंत्री श्री लाल चन्द प्रार्थी पहली बार इस नवयुवक की कला को देखकर प्रसन्न हुए और उसे अपने साथ शिमला ले आए। यहां ओम् प्रकाश को तरह-तरह के प्रयोग करने की खुली छूट मिल गई। बांस की पत्तियों, ताल-पत्रों, भोज-पत्र आदि के ऐप्लिक माध्यम द्वारा इन्होंने पहाड़ी चित्रों को रूपांकित करने का अपना प्रयोग ज़ारी रखा और इसी हेतु 1974 में इन्हें हिमाचल प्रदेश की कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी में कलाकार का पद भी प्राप्त हो गया और आज तक अपनी कला साधना में निर्बाध गति से रत हैं।

अकादमी में कार्यरत रहते हुए पिछले 12-13 वर्षों में ओम् प्रकाश ने अपनी समस्त क्षमता का उपयोग पहाड़ी चित्रकला की साधना में किया है। जयपुर में जिस प्रकार का प्रशिक्षण इन्हें मिला वह इस दिशा में पूर्णत: सहायक था। प्रमुख रूप से पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों के चित्रों की अनुकृतियां बनाने में ही लगे रहे हैं। कांगड़ा, बशोली, गुलेर, नूरपुर, चम्बा, मण्डी, बिलासपुर आदि पहाड़ी शैलियों के अतिरिक्त मुगल लघुचित्रों को भी सब मिलाकर अब तक लगभग 400 लघुचित्र बना चुके हैं। इनमें कुछ इनकी मौलिक कृतियां भी इसी परम्परा में हैं परन्तु उनकी विषय-वस्तु और रंग-रूप-रेखा विन्यास भी पिछली शताब्दियों जैसा ही है, यदि कहीं कुछ अन्तर है तो दो बातों में—एक तो यह कि आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पादित कागज, रंग, तूलिका आदि सामग्री का उपयोग और दूसरे अनुकरण करने के लिए मूल-चित्रों के स्थान पर प्रेस में मुद्रित रंगीन प्रतिकृतियां। इसी प्रकार भित्ति-चित्रों की अनुकृतियां तैयार करने में भी ओम् ने बहुत तन्मयता से काम किया है। सुजानपुर-टीरा के नरवदेश्वर मन्दिर से 4 भित्तिचित्रों की अनुकृतियां बनाई जो ज़ाहिर है कि कांगड़ा शैली में हैं। चम्बा से 25 किलोमीटर दूर गण्डदेरा के मन्दिर के भित्तिचित्र जो बसोली शैली में हैं, उनकी भी 12 अनुकृतियां बनाईं और शिमला के निकट शोधी गांव के मन्दिर से चार भित्तिचित्रों की कापियां तैयार कीं, जो कि कांगड़ा कलम से ही प्रभावित हैं और इनमें गणेश, सरस्वती देवी, रामायण, महाभारत के चित्र हैं।

ओम् प्रकाश स्वभाव से सरल, सहृदय और कम बोलने वाले हैं। अपने छोटे से परिवार (पत्नी और दो स्कूल जाने वाली छोटी कन्याएं) में भी कलात्मक वातावरण बनाए रखे हैं। भक्ति साहित्य, रीति साहित्य और पौराणिक गाथाओं में रुचि रखने वाले इनके मन को सबसे अधिक आकृष्ट करने वाला विषय भगवान कृष्ण की लीलाएं हैं। इसी कारण इनके अधिकांश चित्र भागवत पुराण से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त गीतगोविन्द, रागमाला, रामायण, बिहारी

सतसई, नायिका भेद, बारामासा आदि पर आधारित चित्र बनाए हैं, जो सभी लघु चित्र हैं। बारामासा सिरीज़ में अभी 3 चित्र ही बना पाए हैं और शीघ्र इस शृंखला के शेष 9 चित्र बनाने के लिए तत्पर हैं। यद्यपि वह सारा काम अकादमी के लिए ही करते हैं परन्तु जो थोड़ा बहुत समय इस से बचता है उसका पूर्ण उपयोग घर पर अपनी छोटी-सी चित्रशाला में करते हैं। वहां इनकी प्यारी बेटियां भी इनके रहकर रंग, ब्रश आदि से खेलतीं रहतीं हैं, जिस पर इन्हें प्यार ही आता है, गुस्सा नहीं।

शकुन्तला की चित्र-शृंखला में अभी तक 8 चित्र बना चुके हैं। शेष 8 को शीघ्र पूरा करने की इच्छा रखते हैं।
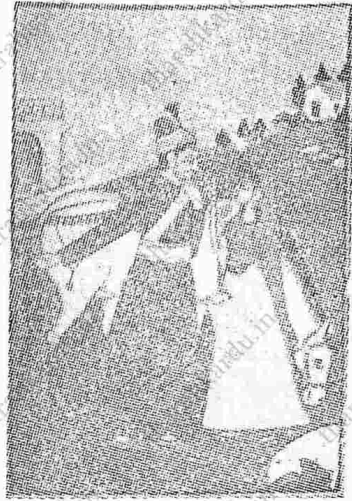
राजा और गोद्दन : ओम्

अब तक के विवरण से यही ज्ञात होता है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में रहते हुए भी कलाकार की चेतना और कल्पना 18वीं, 19वीं शताब्दी के वातावरण में ही रमी रहती है। जैसे कवि रत्नाकर बी० ए० तक की अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करके अष्टछाप के कवियों से भिन्न नहीं प्रतीत होते जब उनका उद्धव शतक पढ़ते हैं। अपने देश-काल के परिवेश में से चित्रसर्जना की प्रेरणा स्वरूप इन्हें पहाड़ों का ग्राम्य जीवन ही अधिक आकृष्ट करता है और कतिपय लघुचित्र अपने बाल्यकाल के परिवेश की मोह-जनित कल्पना के आधार पर बनाए हैं। कलाकार जिस प्राविधिक प्रक्रिया में प्रावस्थित हो जाता है वह उसकी सीमाओं को लांघने के लिए तभी उद्यत होता है जब उसके पास कहने को कुछ ऐसा हो जो नए रूपों और तकनीक की अपेक्षा रखता हो। यह तो एक तरह का कटु कहें या मधुर सत्य है कि पहाड़ी ग्राम्य-जीवन समस्त विकास योजनाओं से हुए बदलावों के रहते भी लगभग अपना वही पुराना रूप बनाए हुए है। इसी कारण ओम्प्रकाश को आज से 200 वर्ष पहले की चित्र शैली में इस ग्राम्य-जीवन को उतारना सहज प्रतीत होता है। अपने साम्प्रतिक नागरिक परिवेश से कुछ प्रेरित होकर कांगड़ा शैली में ही एक 'आधुनिका' का चित्र भी बनाया परन्तु भाव, तकनीक और शैली के तादात्म्य की समन्वित प्रस्तुति ही एक कलाकृति को सफल बना सकती है। हां, गद्दी जीवन सैंकड़ों वर्षों से अपनी यायावृत्ति के कारण अपरिवृत्त है और ओम् प्रकाश की तूलिका के लिए सहज पड़ता है। अतः आश्चर्य की बात नहीं कि कांगड़ा के चितेरे की परंपरा में इन्होंने गद्दी जीवन को दर्शाते हुए सफल लघु-चित्र बनाए हैं। खेत-खेत घूमना, भेड़ों को चराना, उनसे प्यार करना, उनकी ऊनको कातना, बुनना और श्रम से थकने पर बांसुरी बजाकर या प्रेम लीला से जीवन की स्फूर्ति पुनः प्राप्त करना—ये विषय हज़ारों वर्ष पुराने होते हुए भी नए ही बने रहेंगे जब तक औद्योगिक क्रान्ति पहाड़ी ग्रामों की जड़ों में प्रवेश करके उनके सहज जीवन का समस्त रस नहीं चूस लेती। कालिंगवुड ने कहा है कि "एक कलाकार की सीमाएं उसकी सबसे बड़ी

मयूर और नायका : ओम्

मित्र होती हैं" अर्थात् वे ही उसकी विशिष्ट शैली का निर्धारण करती हैं ओम् प्रकाश की सीमाएं, जिनमें विश्व और देश में होने वाली उथल-पुथल के प्रति उदासीनता भी शामिल है, उनके कलाकर्म को प्रस्तुत रूप देने के लिए उत्तरदायी तो हैं ही, साथ ही कलाकार को उसी लक्ष्मण रेखा को लांघने में भी असमर्थ बनाए हुए हैं।

ओम् प्रकाश को धन और मान से कोई लगाव नहीं है इसी कारण जीवन में कोई भारी असन्तोष भी नहीं है जो इन्हें अपनी स्वीकृत मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने पर बाध्य करे। जो साधना मार्ग इन्होंने अपनाया है उससे पूर्णतः सन्तुष्ट हैं। कभी-कभी पारिवारिक और व्यावसायिक कर्तव्य जब इनकी अपनी रुचि की कला सर्जना में बाधा डालते हैं तो वह मौन ही रहते हैं और अन्तर्द्वन्द्व इन्हीं को पीसता रहता है। उस अन्तर्द्वन्द्व को अपनी सर्जना का खाद्य बना पाने में वह असमर्थ हैं और इसी कारण कभी-कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जब किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रह जाते हैं। अपनी इस सरल वृत्ति के कारण इनका यदि कहीं शोषण होता हो तो उसके प्रति भी उदासीनता ही बनी रहती है।

चित्र शृंखलाएं बनाना ओम् को बहुत पसन्द है और इसके लिए भारतीय काव्य और पौराणिक गाथाओं से इनका प्रेम सार्थक सिद्ध होता है। चित्र सीरीज़ पुराने जमाने में चल-चित्र का स्थान रखती थीं। कई भाव घटनाएं और प्राकृतिक अथवा सामाजिक व्यापार ऐसे होते हैं जो केवल एक चित्र की चौहद्दी में नहीं सिगट पाते और एक से अधिक चित्रों की अपेक्षा रखते हैं। परिकल्पना के क्षेत्र का विस्तार जितना अधिक हो उतने ही अधिक चित्रों या फिर उतने लम्बे स्क्रॉल की आवश्यकता रहेगी।

ओम् प्रकाश इधर ओम् सुजानपुरी के नाम से जाने जाते हैं। इनका कलाकार अधिक परिपक्व, दूरदृष्टि सम्पन्न और बहुआयामी हुआ है। इनका विचार है कि लघुचित्रों और भित्ति-चित्रों दोनों की ही पहाड़ी परम्परा को लेकर बदलते हुए जीवन को चित्रित करना अपनी परम्परा को आगे बढ़ाने में सहायक होंगे। एक चित्रकार को काव्य और दर्शन के निकट सम्पर्क में रहकर ही अपनी सर्जना के लिए अपेक्षित सामग्री और प्रेरणा मिल सकती है। अनुकरण मात्र के बल पर आखिर कब तक चला जा सकता है।

अकादमी ने ओम् प्रकाश को प्रदेश के पहाड़ी चित्रकला के गुरुओं में सम्मिलित किया है; जिसके तहत वह अपनी पसन्द के किसी भी शिष्य को चुनकर उसे पारम्परिक चित्रकला का प्रशिक्षण दे सकते हैं। इसके लिए इन्हें और शिष्य दोनों को ही अकादमी से आर्थिक सहायता मिलती है।

[फ्लैट 29, ब्लॉक 3, यू० एस० क्लब, शिमला-171001]

बर्फ की पतली पर्त पर चलते कलाकार

☐ चित्रांशु

ग्रीष्म के आरम्भ के साथ-साथ शिमला नगर में नये जीवन का संचार होने लगता है। जहां एक ओर वन-उपवन पशु-पक्षियों में नई स्फूर्ति दिखाई देती है वहीं यहां के सुसंस्कृत समाज में भी सांस्कृतिक गतिविधियां अंगड़ाई लेती हुई क्रियाशील होने लगती हैं। यद्यपि चित्रकला के क्षेत्र में स्थानीय कला महाविद्यालल के बन्द होने के पश्चात् प्रदर्शनियों का आयोजन यदा-कदा अत्यन्त मन्द गति से होता रहा है तथापि हाल के वर्षों में भाषा एवं संस्कृति विभाग के तत्वावधान में अनेक कला प्रदर्शनियों का आयोजन कलाकारों और कलाप्रेमियों दोनों के लिए उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ है। इस साल 20 अप्रैल से 23 अप्रैल तक **कु० सतनाम कलसी** के चित्रों की प्रदर्शनी, 15 मई से 17 मई तक **हंसराज धीमन** के लघु-चित्रों की प्रदर्शनी और 18 मई से 20 मई तक **कु० सुनीता वालिया** की चित्रों की प्रदर्शनी, ये सभी वाई० डब्ल्यू० सी० ए० हॉल में विभाग द्वारा आयोजित की गईं।

इन उपरोक्त तीनों प्रदर्शनियों में सबसे महत्वपूर्ण बात थी इनकी विविधता और यह भी एक विशेषता थी कि इन तीन चित्रकारों में से दो अविवाहित महिलाएं हैं जिन्होंने अपने जीवन को कला के प्रति समर्पित कर रखा है। **कु० सतनाम कलसी** पंजाब राज्य के समय के शिमला कला विद्यालय की कला शिक्षण की स्नातिका हैं और उनका अधिकांश समय प्रशिक्षण महाविद्यालयों में व्यतीत हुआ है, कभी शिमला तो कभी सोलन। इसी कारण उन्हें युवावर्ग का सम्पर्क निरन्तर मिला है और विभिन्न दिशाओं में प्रयोग करने के अवसर भी। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का साक्ष्य इस प्रदर्शनी में दिखाई दिया जिसमें कला के अनेक आयामों का स्पर्श हुआ है, जैसे भू-दृश्य, प्रतिकृतियां, वस्तु-चित्रण, मुद्र-चित्रण, भित्तिचित्र, गुड़ियां और पुत्तलिकाएं।

प्रदर्शनी प्रशाल में प्रवेश करते ही दर्शकों का ध्यान सर्व प्रथम एक दीर्घाकार पैनेल की ओर आकृष्ट होता है जिसमें एप्लिक, चित्रण और गुड़ियों के मिश्र-माध्यम का प्रयोग करके किन्नौरी जन-जीवन की अत्यन्त आकर्षक झांकी प्रस्तुत की गई है। प्रकृति-चित्रण में उन्होंने जल रंगों, तैल रंगो एवं मसि तूलिका तीनों माध्यमों का उपयोग अलग-अलग किया है। उनके इन प्रयासों में सम्बद्ध विषय वस्तु का अच्छा सादृश्य प्रस्तुत हुआ है। कतिपय जलरंगीय चित्रों में एक कठिन माध्यम पर कलाकार की सिद्धहस्तता का प्रमाण भी मिलता है। इनके वस्तु-चित्रण की प्रस्तुति यद्यपि इस प्रदर्शनी में अधिक नहीं हुई है परन्तु जो भी है वे अत्यन्त सजीव

और आकर्षक बन पड़े हैं। ग्राफ़िक्स में लीनकट और वुडकट इन दोनों विधाओं की सीमाओं और क्षेत्र विस्तार का कुशल उपयोग हुआ है। रेखाचित्रों में कुछ बहुत ही अनूठे हैं जिनमें एक बड़े आकार का चित्र जिसमें वृक्षों और फैन्स की रूप-लयात्मकता को कलाकार ने क्षिप्र व्यंजना द्वारा व्यक्त करके चित्र में प्राण फूंक दिए हैं।

कु० कलसी का विचार है कि कठपुतली निष्पादन से बच्चों में विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सहज भावना जागृत की जा सकती है। बाल हृदय की कोमलता के कारण उस पर भाषणों का प्रभाव नगण्य ही रहता है जबकि पुत्तलिका प्रदर्शन अपनी आकर्षक रंगरूपात्मक गतिशीलता से अपना प्रभाव बच्चों के मन पर स्थायी रूप से डाल सकता है। कलाकार ने अनेक बाल प्रेक्षकों को इनका सजीव प्रदर्शन मौखिक कमेंटरी के साथ-साथ दिखाकर अपनी बात को पुष्ट भी किया।

इस प्रदर्शनी का सिंहावलोकन करते हुए यह बात अनायास ही मन में आती है कि कलाकार यद्यपि अपनी कला के प्रति समर्पित है परन्तु उसमें अभी तक कला के किसी एक आयाम के प्रति एकाग्रता नहीं आ पाई। एक तरह से यह गतिशील जीवन का लक्षण भी हो सकता है परन्तु दूसरी ओर से गंभीर उपलब्धियों के लिए बाधा भी। एक कलाकार की प्रतिबद्धता व्यक्तिगत रूप से अनेक स्थलों में जमी रह पाना संभव नहीं है अतः उचित यही है कि कलाकार अपनी कलागत रागात्मकता को स्वयं खोज कर उसी दिशा में निरन्तर अग्रसर हो।

हंसराज परम्परागत पहाड़ी लघु चित्रण शैली के नवयुवक चित्रकार हैं, जिन्हें अपने पूर्वजों की वंशपरम्परा में कला मिली है। यह चम्बा के चित्रकार प्रेम लाल के पुत्र हैं जो अपने समय में यद्यपि जीवनयापन हेतु कला के प्रयोज्य आयाम का ही अनुसरण करते थे परन्तु पहाड़ी चित्रकला की अपनी पैत्रिक धरोहर के प्रति भी निरन्तर जागरूक रहे—चाहे वह बंगद्वारी हो, लघु-चित्रण हो या फिर कांस्य मूर्त्तियों की सर्जना ! हंसराज की प्रदर्शनी में पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों के श्रेष्ठ-चित्रों की अनुकृतियों के अतिरिक्त बंगद्वारियों का प्रदर्शन हुआ है।

सर्जनात्मक दृष्टि से अनुकृतियों का महत्व अधिक नहीं रह जाता यदि कलाकार इस शिल्पकर्म से अनुभव ग्रहण करके मौलिक रचनाओं के निमित्त प्रेरित नहीं हो पाता। तथापि हंसराज के चित्रों में कार्य कौशल, तूलिका की सिद्ध हस्तता, प्रक्रिया की प्रौढ़ता और रंगों के प्रति सूक्ष्म दृष्टि इनकी अनुकृतियों में भी जान डाल देती है। चित्रों को देख कर यह प्रतीति दृढ़ हो जाती है कि चित्रकार ने मौलिक चित्रों में निहित रस का पान भरपूर किया है और वह सहज ही इन अनुकृतियों में उमड़ पड़ा है। एक बात यहां कह देना सन्दर्भ-रहित न होगा कि आधुनिक युग चेतना में इस प्रकार के कलाकर्म के लिए गुंजाइश अधिक नहीं रह गई है। पर्यटकों, नवधनाढ्यों और नौसिखिए कला संग्रहकर्ताओं के लिए तो इसके प्रति आकर्षण सदा ही बना रहेगा और चित्रकार के सामने जीविका अर्जन की समस्या कुछ मायनों में हल होती रहेगी।

इन चित्रों के उत्पादन में चित्रकार की पहुंच मौलिक कृतियों तक तो अपनी सीमाओं के कारण होनी संभव नहीं थी और उसे उन मुद्रित रंगीन-चित्रों का सहारा ही लेना पड़ा है जिनको कला संबंधी पुस्तकों के साथ संलग्न किया जाता है या संग्रहालयों से स्वतंत्र रूप से भी प्रकाशित होती हैं। इसका एक दुष्परिणाम यह भी है कि बेचारे चित्रकार को कड़ी मेहनत करने के पश्चात् भी वह अवसर नहीं मिल पाता जिसमें मौलिक कृतियों के साक्षात्कार द्वारा

वह अपने अनुभव को प्रचुर बना सके।

सुनीता वालिया हिमाचल राज्य के पूर्व कला महाविद्यालय के चित्रकला विभाग की स्नातिका हैं जहां कुशल प्राध्यापकों से उन्होंने पांच वर्ष तक प्रशिक्षण ग्रहण किया। पोर्टमोर स्कूल शिमला में वह कला अध्यापन अनेक वर्षों से कर रही हैं और अध्यापन कार्य के साथ ही कला के अभ्यास में समय लगाती हैं।

इनकी प्रदर्शनी में 40 चित्रों को प्रदर्शित किया गया जिनमें से 17 तो चन्द्र-कलाओं के विषय पर आधारित हैं और 8 कलश के संदर्भ को अपना कर। शेष चित्रों में कुछ तो केवल पृष्ठावलोकन के रूप में हैं और अधिक ध्यान की अपेक्षा नहीं रखते। अन्य कतिपय दृश्य-चित्र रेखा-चित्र, कोलाज, पहाड़ी शैली पर आधारित चित्र हैं। इन चित्रों में विभिन्न माध्यमों का उपयोग किया गया है जैसे टेम्परा, जल रंग, तैल रंग, मसि-तूलिका, कपड़े की कतरनों का कोलाज आदि। पूरी प्रदर्शनी में सर्वाधिक आकर्षण की चन्द्रकलाओं की सिरीज ही है। परन्तु शिव-पार्वती का दीर्घाकार तैल-चित्र भी कम आकर्षक नहीं।

सुनीता के अनुसार चन्द्रकला सिरीज के 17 चित्रों में जीवन-दर्शन को घटते-बढ़ते चांद को प्रतीक रूप में अन्य प्राकृतिक प्रतीकों के सामीप्य द्वारा ऐहिक और आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न रहस्यों को व्यक्त किया गया है। इनमें बैल, उल्लू, मछली, हाथी, हिरण, सांप, बिच्छू हंस, कछुआ, लहरें, कमल काव्यजगत् और कलाजगत् के चिरपरिचित प्रतीक हैं जो न केवल रूपात्मक दृष्टि से आकर्षक हैं अपितु अपनी-अपनी सहजवृत्तियों और स्वभाव के कारण काव्य और कला के अप्रस्तुत विधान में बहुत सहायक रहे हैं। कलाकार का हृदय बच्चों के समान कोमल होता है और ऐसे चित्र विचित्र प्राकृतिक दृश्य रूपों के प्रति उसका आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। परन्तु कलाकार विचारक भी होता है अतः वह इन आकर्षक रूपों के द्वारा गंभीर रहस्यों का उद्‌घाटन भी कर सकता है। चन्दामामा जहां बच्चों को प्यारे होते हैं वहां कामिनी के मुख सौन्दर्य के उपमान भी और आगे चल कर हृदय रूपी समुद्र में ज्जार-भाटा लाने वाले भी। एक कुशल कलाकार इस थीम को लेकर सारगर्भित चित्र रचना कर सकता है। परन्तु प्रस्तुत सिरीज रंग-रूप-रेखा के संयोजन की दृष्टि से सफल और आकर्षक होते हुए भी उसके सभी चित्र अलग-अलग बिखरे हुए हैं जिनमें कोई दार्शनिक सूत्र या ऐसा विचार नहीं है जो इन 17 चित्रों को माला में पिरो कर बांध सके। ऐसा प्रतीत होता है कि उधार लिए हुए भिन्न-भिन्न दार्शनिक तथ्यों को कलाकार ने बिना पचाए चित्र रचना की है।

इस प्रकार से 'कलश' सीरीज के 8 चित्र हैं जिनमें घट को प्रतीक रूप में लेकर रंग-रूप संयोजना की गई है। सुनीता इन चित्रों को अपने स्पष्टीकरणों और वर्णनों के होते हुए भी एक सूत्र में बांध नहीं पातीं और पूरी सीरीज में कलशों का होना सविकल्प न होकर एक आकस्मिक घटना मात्र लगती है। अनेक दार्शनिक कवियों ने घट का प्रयोग गंभीर रहस्यों की व्यंजना में किया। कबीर ने 'अन्दर घट है बाहर जल है' द्वारा ब्रह्म और जीव के रहस्य को सरल भाषा किन्तु गंभीर भावात्मकता से व्यक्त किया। फारसी दार्शनिक कवि उमर खैयाम ने अपनी रुबाइयों के कूजा-नामा खंड में तो नियति और व्यक्ति का रहस्य मृण्मय घट के रूपक से जितना चित्रात्मक बना दिया उससे ईरानी चित्रात्मक कल्पना परंपरा को बहुत प्रचुरता प्राप्त हुई है। विरासत में इतनी प्रचुर परम्परा प्राप्त किए हुए भी सुनीता उसको लेश मात्र छू

नहीं पाई है। प्रत्युत, एकाध चित्र तो मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से दूसरी ही कथा व्यक्त करते प्रतीत होते हैं।

रेखाकनों में 'कपोत युगल' में चित्रकार की ग्राफिक दृष्टि की कुशलता दृष्टिगोचर होती है और 'मयूर' में यद्यपि सही मायनों में कोलाज कला का उपयोग नहीं हो पाया है, तथापि संयोजन अत्यन्त आकर्षक और कौशलपूर्ण है।

हिमाचल के इन चित्रकारों की प्रदर्शनियों को देखने के बाद एक चेतनाशील व्यक्ति यह विचार करने के लिए भी बाध्य हो जाता है कि इस सब सर्जन-प्रेक्षण से प्रदेश और देश की चित्रकला में क्या अंशदान होता है। पहली बात तो यह है कि पहाड़ी चित्रकला अब सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन का एक सशक्त आन्दोलन नहीं रह गया है, केवल पर्यटक-आकर्षण ही उसमें रह गया है। परन्तु यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसके कारण अब भी कुछ चित्रकार कला कर्म द्वारा जीवन यापन कर सकते हैं। **प्रेम लाल और हंसराज** इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु अपनी संपूर्ण संलग्नता और प्रतिभा के होते हुए भी उनकी सर्जनात्मक कल्पना के विकास हेतु समाज अभी तक अनुकूल परिस्थितियां मुहय्या नहीं कर सका है। राज्य प्रोत्साहन पर निरन्तर निर्भर करना तो बर्फ़ की पलती पर्त पर चलने के समान ही रहेगा।

सतनाम और सुनीता की जीवन वृत्ति तो शिक्षण कार्य से चलती है और अपने रिक्त समय को कला-साधना के लिए समर्पित करना भी उन्हें आसान है, क्योंकि गृहस्थी का बखेड़ा उन्होंने मोल नहीं लिया है। हमारे प्रदेश के अधिकांश चित्रकार और मूर्तिकार शिक्षण या अन्य सरकारी गैर-सरकारी सेवा द्वारा जीवन यापन करते हुए कला-साधना भी कर लेते हैं। यह एक बहुत सराहनीय बात है, वास्तव में यह उनकी समाज के प्रति एक निष्काम सेवा है क्योंकि उनके परिश्रम का उचित प्रतिकार समाज तनिक नहीं देता फिर भी वे कलाकर्म छोड़ते नहीं। धन-लोलुपता तो ललित कला का ध्येय होना भी नहीं चाहिए परन्तु धनाभाव में जीवन यापन भी तो संभव नहीं है। ऐसा लगता है कि कला कर्म अधिकांशत: एक हाबी, मनोरंजन, शौक के स्तर तक ही रह सकेगा। फोटोग्राफी के अत्यधिक विकास के साथ पोर्टरेचर पेंटिंग भी कम होती जा रही है और कलाकार अपनी प्रतिभा को प्रयोज्य विधाओं में प्रयुक्त करके जीवनयापन कर सकते हैं। जाहिर है कि ऐसी अवस्था में कला सही रूप से विकासोन्मुख होने मे असमर्थ रहेगी। उसे एक सशक्त आन्दोलन के रूप में विकसित होने के लिए समाज को भी उतना ही सचेत, समृद्ध और सशक्त बनना पड़ेगा जितने कि अपेक्षा वह कलाकार से रखता है।

उषा-अनिरुद्ध चित्र-सीरीज़ कथा

पिछले अंकों में आप पढ़ चुके हैं कि जब प्रहरियों को यह मालूम हुआ कि उषा के कक्ष में एक सुन्दर युवक रह रहा है तो उन्होंने अपनी जिम्मेदारी समझते हुए बाण को इस बारे में डरते-डरते सूचना दी। बाण ने जब अपनी आंखों से श्यामसुन्दर, मोहक व्यक्तित्व वाले इस युवक को उषा के साथ प्यार से बातें करते देखा तो वह आश्चर्यचकित रह गया था और क्रोध में आकर अपने सैनिकों को पुकारा और रथ लाने का आदेश दिया था।

बाण ने अन्तत: उस सुन्दर युवक को ललकारा और दोनों में युद्ध हो गया। अनिरुद्ध ने वीरता के साथ बाण का मुकाबला किया। उषा यह युद्ध महल के एक गवाक्ष से देखती रही। दोनों के बीच जब खूब मुकाबला चला तो बाण ने अपनी चतुरायी दिखाते हुए 'नागपाश' का प्रयोग किया और इस तरह अनिरुद्ध को बन्दी बना दिया। क्रमश:

बाण और अनिरूद्ध का युद्ध

भूरी सिंह संग्रहालय चंबा में संग्रहीत उषा-अनिरूद्ध चित्र सीरीज (१७७०-१७७५) का चौदहवां चित्र